मंगल मंदिर खोलो
प्रेम अमीरस ढोलो
दयामय
मंगल मंदिर खोलो
मंगल मंदिर खोलो
-मुनि देवरत्नसागर

|| श्री गौतम स्वामीने नमः ||

|| ॐ ऐं नमः ||

मंगल मंदिर खोलो

• वाचनादाता •

अचलगच्छाधिपति पू. आचार्य श्री गुणसागर सूरीश्वरजी महाराजा के
आगमाभ्यासी पू. गणि श्री महोदयसागरजी म.सा. के शिष्यरत्न
मुनि देवरत्नसागरजी म.सा.

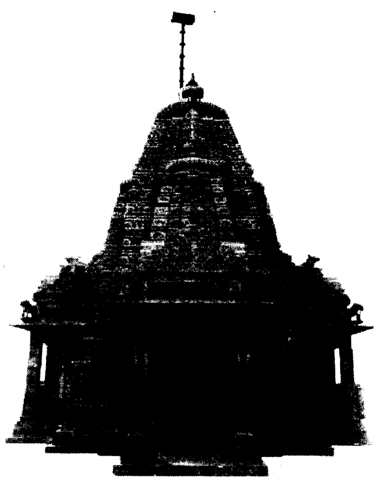

97

શ્રી શ્રુત પ્રસારણ નિધિ ટ્રસ્ટ

C/o. તલકચંદ નાનજી ગાલા

૩૦૧, લક્ષ્મી નિવાસ, પ્રભાત કોલોની રોડ નં ૬,

સાંતાક્રૂઝ (East), મુંબઇ ૪૦૦ ૦૫૫.

ફોન : 2663 1818.

	श्री सुपार्श्वनाथाय नमः	
	श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथाय नमः	
	श्री मुनिसुव्रत स्वामिने नमः	
	श्री विमलनाथाय नमः	

कोइम्बत्तुर की धरा पर
समस्त जैनसंघ के तत्वावधान में ई.सं. २०१३ के
चातुर्मास में पुरंदरे हॉल में पंच रविवारीय
जीवन सौभाग्य शिबिर में
१७००/१८०० की जनमेदनी में
पूज्य मुनि श्री देवरत्नसागरजी के
सात प्रकाशनों के लिए
जमा हुई राशि से
यह प्रकाशन भी श्री संघ के कर कमलों में
सादर समर्पित

श्री राजस्थान जैन श्वे. मू. संघ
श्री कोइम्बत्तुर जैन श्वे. मू. संघ
श्री क.द.ओ. ज्ञाति महाजन
कोईम्बत्तुर

धन्यवाद !!!

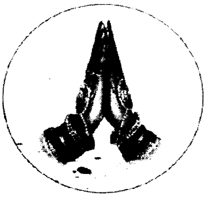

आभार
अनुमोदना .... अभिनंदन

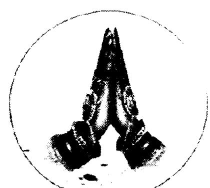

।। श्री आर्यरक्षित-जयसिंह-कल्याण-गौतम-गुण- गुणोदय-कलाप्रभ महोदय गुरूभ्यो नमः।।

उपकार आपका, ऋण स्वीकारन आजका

जिनका स्मरण मेरा प्रथम मांगलिक है ....
जिनकी दिव्यकृपा मेरा आश्वासन है ...
जिनकी कृपा ही मेरी शक्ति है ...
ऐसे स्वनामधन्य, अचल गच्छाधिपति पू.आ. भ. श्री **गुणसागरसूरीश्वरजी महाराजा**

जिनकी आज्ञा से संयम सुरक्षित रहा है,
45-45 सालों से लगातार वर्षीतप की आराधना कर रहे है,
ऐसे तपस्वी सम्राट् अचलगच्छाधिपति
पू.आ. श्री **गुणोदयसागरसूरीश्वरजी महाराजा**

जिन्होंने सदा समय एवं समझ की पूंजी प्रदान की है, और उत्साह बढाया है
ऐसे सूरिमंत्राराधक, संघ वत्सल,
पू.आ. श्री **कलाप्रभसूरीश्वरजी महाराजा**

महाव्रतों की रक्षा के प्रेरक बने, प्रज्ञाबल एवं
परिणतिबल की वृद्धि करायी है
ऐसे गुरूदेव आगमभ्यासी पं श्री **महोदयसागरजी म.सा.**

सदा देते है साथ, रहते है संगाथ, कर रहे है भक्ति का प्रयास ऐसे शिष्यरत्न
मुनि श्री तीर्थरत्नसागरजी म.सा. (8वाँ वर्षीतप)
मुनि श्री देवरक्षितसागरजी म.सा. (59 वीं ओली)
मुनि श्री तत्वरक्षिसागरजी म.सा. (45 वीं ओली)
मुनि श्री मेघरक्षितसागजी म.सा. (23 वीं ओली)
मुनि श्री चैत्यरक्षितसागरजी म.सा. (19 वीं ओली)
आप सभी के उपकारों से मुक्त बनने का प्रमाणिक पुरूषार्थ होता रहे यही कामना ....

- मुनि देवरत्नसागर

मार्गानुसारी... याने?

जैन धर्म में आध्यात्मिक उन्नत्ति की १४ सीढ़ीयाँ है ...
अंतिम लक्ष्य तो मोक्ष ही है
लेकिन प्रथम कदम मार्गानुसारी का जीवन है
मोक्ष के मार्ग पर चलने के लिए
तत्पर है वह मार्गानुसारी ....
सम्यक्दर्शन एवं साधु जीवन उसके
पूर्व की अवस्था मार्गानुसारी है
मार्गानुसारी याने सच्चा गृहस्थ
सुपात्र व्यक्ति ...
सज्जन श्रावक
३५ गुणों मार्गानुसारी के है
उसमें से बारह गुणों का यह विवेचन है ...
आँख पवित्र बने ....
हाथ नीति युक्त बने
और अंत:करण मलिनता से मुक्त हो ....
यही भावना ......

प्राक्कथन

जैन दार्शनिकों ने मानव जीवन के असीम गुण-गाये हैं। अनादिकाल से इस चतुर्विध संसार में परिभ्रमण करते हुए जीवात्मा को पापात्मा से पुण्यात्मा बनाने और अन्त में परमात्मा के सृजन में मानव-जीवन का प्रथम सोपान है।

परन्तु कौनसा मानव-जीवन शास्त्रकारों की प्रशंसा का पात्र है? किस प्रकार के मनुष्य का जीवन परम पद पाने योग्य है।

इसका उत्तर है - जिसका जीवन मार्गानुसारी के गुणों की सुगन्ध से सुरभित है, सद्गृहस्थ के रूप में उचित एवं उत्तम गुणों के गुलाब की सौरभ से सुशोभित है, जिनके सद्गुणों की सुरभि सम्पूर्ण विश्व में फैलती है ऐसे मनुष्य का जीवन प्रशंसा का पात्र है। ऐसे पवित्र पुरुष का जीवन परम पद की प्राप्ति का प्रथम सोपान बनता है।

आज सर्वाधिक विकराल एवं विकट प्रश्न है कि आज 'मानव' कहाँ है? हम मानवों को तो नित्य देखते हैं। एक-दो नहीं परन्तु सहस्रों मनुष्यों को हम नित्य निहारते हैं, परन्तु वास्तव में वे सभी मनुष्य 'मानव' नहीं होते। उनके स्वरूप सर्वथा भिन्न-भिन्न होते हैं।

आल्बेर कामू की 'घ प्लेग' शीर्षक एक सुप्रसिद्धकथा का स्मरण हो आया है। उस कथा में चार युवक वार्तालाप कर रहे हैं।एक युवक ने पूछा, ''बोलो मित्रों! हम अपना भविष्य कैसा बनाना चाहते हैं? हमें भविष्य में क्या बनना है।''

एक युवक बोला, ''मैं तो महान् वैज्ञानिक होना चाहता हूँ।''

दूसरा बोला, ''मेरी तो महान् लेखक बनने की इच्छा है।''

तीसरे युवक ने कहा, ''मेरी महत्वाकांक्षा तत्त्ववेत्ता बनने की है, इसके अतिरिक्त मेरी कोई इच्छा नहीं है।''

तीनों मित्रों का वार्तालाप चल रहा था, तब चौथा मित्र चुपचाप उनकी बातें सुन रहा था। ऐसा प्रतीत होता था कि मानो वह किसी अगाध चिन्तन-सागर में डूब गया हो। अपने उत्तर का मन ही मन चिन्तन कर रहा हो।

इन चारों मित्रों के साथ वहाँ महात्मा सुकरात भी बैठे हुए थे, परन्तु उन्होंने उनकी चर्चा में भाग नहीं लिया। फिर भी वे इन चारों की बातें रूचि पूर्वक सुन रहे थे। वे इस प्रतीक्षा में थे कि देख चौथा मित्र क्या बोलता है?

इतने में चौथा मित्र बोला, ''मित्रो! मुझे तो दूसरा कुछ नहीं बनना, मैं तो 'मानव' बनना चाहता हूँ।''

यह वाक्य सुनते ही महात्मा सुकरात कुर्सी पर से उठ खड़े हुए और जोर से ताली बजा कर बोले, अरे! यह सर्वाधिककठिन एवं सर्वाधिक श्रेष्ठ बात है।''

यहाँ 'मानव' का अर्थ मानव-देह प्राप्त होने से नहीं है। मानव की देह में अनेक बार दानव भी निवास करते हैं। इन्सान के रूप में संसार में अनेक शैतान भी घूमते हैं।

हम केवल देहधारी मानव को ही 'मानव' नहीं कहना चाहते। हम तो मानवता की सौरभ फैलाने वाले एवं मनुष्यता की ज्योति के द्वारा विश्व को जगमगाने वाले मनुष्यों को ही 'मानव' कहना चाहते हैं। ऐसी 'मानवता' प्राप्त होती है - जीवन को मार्गानुसारी के गुणों से सुरभित-सुशोभित कर देने में।

जिस व्यक्ति के जीवन में मार्गानुसारिता के गुणों का अमूल्य कोषागार है, उसके पास सांसारिक सम्पत्ति कितनी है उसका हिसाब लगाने की आवश्यकता नहीं है। बाह्य सम्पत्ति से सम्पन्न व्यक्ति आध्यात्मिक जगत् का महान् धनवान ही है। 'न्याय-सम्पन्न-वैभव' से लगा कर 'इन्द्रिय-विजय' तक के पैंतीस गुणों की सम्पदा जिसके पास है, वह मनुष्य ही वास्तविक 'मानव' है। ऐसे मानव का जीवन मांगल्य की मंगलमय सुवासित वाटिका है, जिसके सद्गुणों की सुरभि सर्वत्र सुगंध फैलाती है, जिसकी वाणी विवेकपूर्ण होती है, जिसकी विचारधारा संस्कारों से समृद्ध होती है और जिसका आचरण आत्माभिमुखी होता है।

ऐसा 'मानव' ही सच्चा 'इन्सान' है और 'इन्सान' मिट कर 'भगवान' बनने के पुण्य-पथ का प्रवासी है। मार्गानुसारिता के गुण मानव-देहधारी मानव को 'सच्चा मानव' बनानेवाले हैं और इस *कारण ही इन पर इतना विशद एवं विस्तृत विवेचन किया गया है।*

आधुनिक विश्व में इन गुणों का प्रचार एवं प्रसार व्यापक होना अत्यन्त आवश्यक है। इन पैंतीस गुणों में से बारह गुणों का विवेचन इस प्रथम भाग में समाविष्ट किया गया है जिसे 'मंगल मन्दिर खोलो' के नाम से प्रकाशित किया गया है। हम सबके जीवन में मानवता का मंगल मन्दिर खोलने में यह ग्रन्थ अत्यन्त ही उपयोगी सिद्ध होगी ऐसी आन्तरिक अभिलाषा व्यक्त करता हूँ।

बम्बई वड़ाला के वि.सं. 2041 के चातुर्मास में प्रत्येक रविवार को युवक शिविर में मार्गानुसारी के गुणों पर वाचना देने की अवसर प्राप्त हुआ। चिन्तनमय-तत्त्वयुक्त वाचनाओं ने अनेक युवकों के जीवन में शुभ सुकृत करने के भाव जागृत किये। समस्त भाइयों के आग्रह से वे वाचना प्रत्येक रविवार को होती थी। उन वाचनाओं को सुन्दर ढ़ंग से व्यवस्थित करके सुन्दर ग्रन्थ का रूप देने के विचार को साकार किया है दक्षिण भारत में हिन्दी का उपयोग होने के कारण गुजराती से हिन्दी का अनुवाद किया है। यह संकलन 'मंगल मन्दिर खोलो' के नाम से आपके समक्ष प्रस्तुत कर सका हूँ।

अन्त में इस ग्रन्थ के पठन, मनन एवं परिशीलन से विश्व के समस्त जीव अनुपम मंगल प्राप्त करें, सबके जीवन मानवीय गुणों के मंगल मन्दिर तुल्य बनें और सभी लोग शाश्वत सुख के *स्वामी बने यही शुभाभिलाषा।*

मुनि देवरत्नसागर

श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथ मंदिर
कोयम्बत्तुर
ता. 24-10-2013

परमपद के पथ में ज्योतिर्मय पाद-मार्ग...

(भूमिका)

परम पद अर्थात् मोक्षपद।
साधक का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष।
आराधक का अविराम विराम-केन्द्र मोक्ष।

इस प्रकार के मोक्ष की प्राप्ति के लिये, हमारे जीवात्मा को अनादि काल में जीव से लिपटे हुए मोह रूपी मिथ्यात्व को दूर हटाना ही होगा।

मिथ्यात्व घोर अंधकार है। उस अंधकार को विदीर्ण करके परम पद के पथ में एक ज्योतिर्मय पाद-मार्ग को प्रस्तुत करते हैं - इस ग्रन्थ में जिनका विस्तृत विवेचन है वे ''मार्गानुसारी के पैंतीस गुण।''

इन पैंतीस गुणों की यहाँ भूमिका है।

इस भूमिका का मनन करके हम सब अपनी आत्म भूमिका को निर्मल करने के पश्चात् चलना प्रारम्भ करें ... उन पैंतीस गुणों के ज्योतिर्मय पाद-मार्ग पर ....

॥ श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथाय नमः॥

श्री जिनशासन सम्यग् ज्ञान का अमूल्य कोषागार है, सम्यग् ज्ञान की सुरभि से सुगन्धित एवं सुसंस्कारित है उक्त जिनागम का प्रत्येक पृष्ठ एवं प्रत्येक पंक्ति। इन पृष्ठों एवं पंक्तियों में महकती ज्ञान-सुरभि जीवात्मा के अनादिकालीन मिथ्यात्व की भयंकर दुर्गन्ध को समूल नष्ट करने के लिये अमोघ शक्ति से युक्त है। सम्यग् ज्ञान नरक एवं तिर्यंचों की दुर्गतियों के द्वारों पर ताले लगा कर देव गति एवं मानव भव की सद्गतियों के दरवाजे खोल देता है।

जीवन जीने की कला सिखाता है यह श्री जिन-शासन! मनुष्य को वास्तविक रूप में 'मनुष्य' बनाने वाला, शैतान को शैतान से मानव बनाने वाला और अन्त में 'भगवान' बनाने वाला है यह अनुपम श्री जिनशासन! वासना के बन्धन से चिर मुक्ति प्रदान कराने वाला और अन्त में शाश्वत सुख प्रदान कराने वाला है यह श्री जिन शासन।

अनन्त तीर्थंकर परमात्माओं का यह कैसा अमूल्य उपकार है। जिन शासन रूपी नौका को इस भव-सागर में तैरती हुई छोड़कर उन्होंने हम पर कैसा अनन्त उपकार किया है और कैसी अपरिसीम करूणा प्रवाहित की है!!! क्षण भर के लिये हम तनिक कल्पना करें कि यदि यह जिनशासन हमें प्राप्त नहीं हुआ होता तो? तो हम इस भवसागर में कहीं भटकते, टकराते और गोते खाते होते। हमारी क्या दशा होती और क्या दुर्दशा होती, उस पर क्या हमने कभी गम्भीरता पूर्वक सोचा है?

हमें उन आचार्य भगवान श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराज के उस दिव्य शास्त्र वचन का स्मरण होता है -

कत्थ अम्हारिसा पाणी दुसमा दोस दूसिया।
हा! अणाहा कहं हुंता, जइ न हुज्ज जिणागमो॥

''श्री जिनेश्वर भगवान का यह अमूल्य जिनागम यदि हमें प्राप्त नहीं हुआ होता, यदि उसका अस्तित्व ही नहीं होता तो दुःषम काल के दोष से दूषित हम अनाथों का इस जगत् में क्या होता?

हमें कब परमात्मा के शासन से विहीन अपनी विजय अनाथ प्रतीत होती है?

अनाथता प्रतीत हुई है, वांछित धन-सम्पत्ति प्राप्त नहीं होने पर।

अशरणता प्रतीत हुई है, हृदय-वल्लभा पत्नी की मृत्यु होने पर।

असहायता की अनुभूति हुई है, युवक पुत्र की अचानक दुर्घटना में मृत्यु हुई तब।

व्याकुलता की अनुभूति हुई है, व्यवसाय में उथल-पुथल होने पर और अकल्पनीय मंदी के झटके के कमर तोड़े डालने पर।

आँधी आई है, जब जीवन में दुःखों का आकस्मिक एवं आकुल-व्याकुल कर डालने वाला

झंझावात पूर्ण तूफान उठा तब।

परन्तु ..... परन्तु ....

अनाथता प्रतीत नहीं हुई ..... जिनशासन नहीं प्राप्त होने की कल्पना से

अशरणता प्रतीत नहीं हुई .... जिनशासन प्राप्त होने पर भी कदापि ... उसे सफल न करके जीवन के पलों को हम खुल्लम खुल्ला नष्ट कर रहे है तब ....

असहायता की अनुभूति नहीं होती सद्गुरूओं की सत्संगति प्राप्त होने पर भी जीवन के किसी रंग में परिवर्तन नहीं होता तब ....

व्याकुलता का अनुभव नहीं होता .... जब आप नोटों के बंड़लों पर लेटते हैं तब, हजारों भूखों-दु:खियों सह धर्मियों एवं लाखों दीन दु:खियों की दुर्दशा का मन में विचार तक नहीं आता तब।

जिन संसारिक सुखों के राग को ज्ञानी तीर्थंकर परमात्माओं ने अनन्त दु:खों का मूल एवं दुर्गतियों का हार बताया, उनके ही पीछे हम घूमते रहे भटकते रहे और वह परिभ्रमण, भटकाव अभी तक चल ही रहा है।

इच्छित सुखों को प्राप्त करने और अनिच्छित दु:खों को नष्ट करने के लिये हम 'सब कुछ' करने के लिये तत्पर हैं, हाँ सब कुछ करने के लिये। नीति-अनीति, न्याय-अन्याय, धर्म-अधर्म, पाप अथवा पुण्य, विश्‍वासघात अथवा लूट, चोरी अथवा जुआ किसी भी तरह, किसी भी मार्ग से मन-वांछित सुख प्राप्त कर लेना, और किसी भी तरह, किसी भी मार्ग का अवलम्ब ग्रहण कर अनिच्छित दु:ख को मिटा डालना। यही है वर्तमान मानव का एकमात्र लक्ष्य।

सुख प्राप्त करने योग्य है और दु:ख मिटा डालने योग्य है। ये दो मन्त्र वर्तमान मानव को मोहराजा ने इतने पक्के पढ़ा दिये हैं कि वह इनसे विपरीत बात सुनने तक के लिये तैयार नहीं है।

इन कुसंस्कारों के कातिल बंधन से ऐसा बंध गया है हमारा आतमराम कि उसे अब भाई! तू बंधा हुआ है यह कहकर जागृत करने वाला सद्गुरू मिलने पर भी वह उनकी बात मानने के लिये भयानक रूप से विवश है।

जब तक मैं बंधनों से बंधा हुआ हूँ, सांसारिक सुखों की भयानक राग-दशा एवं दु:खों के प्रति क्रूर द्वेष भावना ही महा बंधन है इस बात का भान ही न हो तब तक उन बंधनों से मुक्त होने की इच्छा ही कैसे हो सकती है? और जब तक उन बंधनों से मुक्त होने की इच्छा न हो तब तब उन बंधनों से मुक्त होने के उपायों को - परमात्म-शासन के द्वारा हमारे पास उपलब्ध होते हुए भी प्राप्त करना हमें सूझे भी कहाँ से?

सुखों की वासना एक ऐसी खुजली है कि इसे आप ज्यों ज्यों खुजलोगे त्यों त्यों खुजली अधिकाधिक तीव्र होती जाऐगी, खुजलने से आनन्दानुभूति नहीं होगी, परन्तु आनन्द का आभास

होता जायेगा, जैसे खुजली के रोगी को खाज खुजलने में आनन्द आता है? जब वह नाखून से अथवा किसी तीक्ष्ण वस्तु से खाज खुजलता है तब उस समय का आनन्द कैसा अवर्णनीय प्रतीत होता है? क्या वह वास्तविक आनन्द है अथवा आनन्द का आभास मात्र है, आनन्द प्राप्त होने का मिथ्या भ्रम मात्र है?

यदि खाज करने में सच्चा आनन्द हो तो खाज शान्त होने पर भी आनन्दानुभूति होती ही रहनी चाहिये, परन्तु उल्टा खाज करने के पश्चात् उस अंग पर जलन की तीव्र वेदना होती है, खुजली का रोगी जलन-जलन की तीव्र चीख पुकार करता है, उसकी वेदना असह्य होती है। वेदना की उस असह्य पीड़ा के समक्ष खुजली करने के समय की आनन्द की काल्पनिक अनुभूति अग्नि के समीप रखे हुए बर्फ की तरह पिघलकर विलीन हो जाती है।

सांसारिक सुखों की वासना की खाज बिल्कुल इसी प्रकार की है, फिर चाहे वह सुन्दर स्पर्श करने की हो, काम-वासना के उपभोग की हो, जीभ से सुमधुर एवं स्वादिष्ट भोजन का आस्वादन करने की हो, नाक से सुगन्धित सैन्ट इत्र सूँघने की अथवा नेत्रों से सौन्दर्य-दर्शन की हो, अथवा कर्ण प्रिय मधुर फिल्मी गीत श्रवण करने की हो। पाँचों इन्द्रियों के उत्तम पदार्थों को उपभोग करने की लालसा 'वासना' ही है। 'वासना' शब्द का व्यापक अर्थ वर्तमान सामान्य समाज स्पर्शेन्द्रिय के विषय-सुख का उपभोग ही समझता है, परन्तु वह स्थूल अर्थ है। सूक्ष्म अर्थ है पाँचों इन्द्रियों के इच्छित पदार्थों के उपभोग की लगन ही वासना है और वासना ही खाज है, जिसे आप ज्यों ज्यों खुजलाते जाओगे, उसका उपभोग करते जाओगे, आनन्द लेते जाओगे, त्यों त्यों वह अधिकाधिक भड़कती जायेगी, भभकती जायेगी और उसकी आग तीव्रतम होती जायेगी। अग्नि में ईंधन डालने से अग्नि में वृद्धि होगी अथवा कमीहोगी? निश्चित रूप से उसमें वृद्धि होगी, ईंधन डालने से अग्नि घटने की तो बात ही नहीं है।

अग्नि शान्त करने काएक ही उपाय है पानी। विषय-वासना की अग्नि में आप भोग-विलास रूपी ईंधन यदि डालते ही जाओगे तो वह अग्नि भड़क उठेगी। अत: आप विषय-वासना की अग्नि में भोग-विलास रूपी पेट्रोल डालने का कार्य कदापि मत करना। उस पर तो पानी ही डाला जाता है और उसे बुझाने वाला पानी है - जिनेश्वर परमात्मा की उपासना।

उपासना के अनेक प्रकार है -

1. जिनेश्वर भगवान द्वारा प्ररूपित सर्वविरति धर्म के सम्पूर्ण आज्ञापालन का स्वीकार।

2. सर्वविरति धर्म को ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य मान कर हृदय से स्वीकार कर, उसके यथा संभव अल्पांश-देशविरति धर्म का पालन।

3. उक्त सर्वविरति एवं देशविरति के सुमार्ग तक पहुँचने के लिये आवश्यक गुणों का पालन ही मार्गानुसारी के पैंतीस गुण हैं।

ये पैंतीस गुण जीव को सुमार्ग पर ले जाते हैं, मोक्ष रूपी मार्ग का अनुकरण करने वाले हैं और इस कारण ही इन्हें मार्गानुसारी के गुण कहा जाता है।

परन्तु क्या इन गुणों को प्राप्त करने की हम में योग्यता है? पात्रता है? पात्रता के बिना कितना ही उत्तम भोजन हो तो भी वह हजम नहीं होता।

हम क्या करें तो यह पात्रता आ सकती है? पात्रता की अत्यन्त ही सुन्दर और सरल व्याख्या में आपको कर बतायें। वह व्याख्या सुनते ही आप बोल उठेंगे। - 'तो तो हम अवश्य ही पात्र हैं उन पैंतीस गुणों को प्राप्त करने के लिये।'

''चाहे ये सद्गुण मुझ में नहीं है, परन्तु ये गुण मुझे प्राप्त करने ही हैं, वे मुझे अत्यन्त प्रिय हैं और उन्हें प्राप्त करने के लिये मुझे अपने शक्ति के अनुसार सब कुछ कर गुजरना है।'' बस, इस प्रकार की लगन और तमन्ना ही इन गुणों को प्राप्त करने की पात्रता है।

''पौद्गलिक पदार्थों में ही सुख है' - इस भ्रामक मान्यता ने ही जीव को ऐसे विपरीत मार्ग पर चढा दिया है कि जिसे सीधे मार्ग पर चढ़ाना एक अत्यन्त ही कठिन कार्य हो गया है।

रूपवती पत्नी का पति बन जाने में संसारी जीव ने सुख समझा है।

स्वयं के पास स्कूटर होते हुए भी पड़ोसी के घर मारूतिकार आ जाने के कारण वह स्वयं को दुःखी समझने लग गया है, मारुति कार की प्राप्ति में वह सुख की कल्पना कर रहा है।

अपने पड़ोसी के घर अभी तक 'वीडियो' नहीं आया परन्तु यदि स्वयं के घर पर 'सोनी टी.वी. तथा वी.सी.आर' आ गया हो और शयनकक्ष में डनलप की गद्दी पर सोते-सोते अपनी इच्छित फिल्मों की केसेट वह देख सकता है तो वह स्वयं को अत्यन्त सुखी मानता है।

विधान सभा के चुनाव में - कल्पना की हो, अनुमान नहीं लगाया हो तो भी भी चुनाव में उम्मीदवार बनने का टिकट प्राप्त हो जाने के कारण वह स्वयं को अत्यन्त भाग्यशाली समझता है।

ज्यों ज्यों मन की आकांक्षाऐं - अपेक्षाऐं पूर्ण होती जाती हैं त्यों त्यों वह स्वयं को अधिकाधिक सुखी मानने लगता है और यदि उक्त आकांक्षा अथवा अपेक्षा पूर्ण नहीं हो तो वह स्वयं को अत्यन्त दुःखी समझने लगता है।

पल में प्रसन्न ! पल में अपसन्न!

क्षणे रूष्टा: क्षणे तुष्टा:!

ऐसी विवशतापूर्ण, पामर एवं पंगु दशा है इस संसारी जीवात्मा की।

पर्युषण में आठ आठ दिनों तक उपवास करने वाला ... एक दिन निश्चित समय पर दूध प्राप्त न होने पर, चाय पीने में विलम्ब हो जाता है तो वह बिचारा पंगु बन जाता है, उसका सिर चकराने लगता है, वह अपनी ही प्रिय पत्नी पर क्रोधित हो जाता है - गर्मागर्म कड़क मधुर गिरनार की चाय की तरह।

कैसी भयंकर पराधीनता!

पराधीनता में सुख है ही नहीं!

सुख स्वाधीनता में ही है। जब तक यह सत्य समझ में नहीं आ जाता, तब तक 'कूप-मण्डूक' को सागर की विशालता का ज्ञान हो ही नहीं सकता। उसकी दशा हुक्का पीने में ही जीवन का परम सुख समझने वाले उस गाय चराने वाले रबारी के समान ही रहेगी।

वहाँ हुक्का पीने को मिलेगा?

पंडित ने गाय चराने वाले रबारी को धर्मोपदेश देना प्रारम्भ किया। तब रबारी ने पूछा, "धर्म से क्या प्राप्त होगा?"

पंडित ने उत्तर दिया, "धर्म से मोक्ष की प्राप्ति होगी।"

गाय चराने वाले रबारी ने पूछा, "मोक्ष कैसा होता है?"

पंडित ने उत्तर दिया, "मोक्ष में अपार आनन्द होता है, बस-आनन्द ही आनन्द। केवल आनन्द, आनन्द और आनन्द, वहाँ दु:ख का तो नाम मात्र तक नहीं होता। धर्म से इस प्रकार की मोक्ष प्राप्त होता है।"

तब गाय चराने वाले रबारी ने कहा, "आनन्द की बात तो ठीक है, परन्तु यह बताओ कि आपके मोक्ष में हुक्का पीने को मिलेगा?"

पंड़ित ने कहा, "नहीं, वहाँ हुक्का तो नहीं मिलेगा।"

गाय चराने वाले रबारी ने उत्तर दिया, "तब तो आग लगाओ आपके मोक्ष को ... जहाँ हुक्का पीने को भी नहीं मिले, ऐसे मोक्ष में भला आनन्द कैसे हो सकता है?"

गाय चराने वाले रबारी के मन से हुक्का पीने की अपेक्षा अधिक आनन्द हो सकता है - यह बात उसके गले उतरने वाली नहीं है।"

प्राय: हम जैसे समस्त संसार-रसिक जीवों की ऐसी ही करूण दशा है।

गाय चराने वाले रबारी को हुक्का पीने में ही आनन्द की अनुभूति होती है।

बिल्ली को यदि चूहे खाने को मिल जायें तो वह स्वयं को सुखी मानती है।

आपको यदि किसी फिल्मी-अभिनेता से हाथ मिलाने का अवसर प्राप्त हो जाये तो आप अपने आप को महान भाग्यशाली समझते हैं।

रात्रि में बारह बजे मार्ग में 'पाव भाजी' एवं 'भेलपुरी' खाने में ... अनाहारी ... पद जिसका स्वभाव है वह हमारी आत्मा ... आनन्द का अनुभव करती है। हाय! करूणता!

पाँचों इन्द्रियों के विषयों से सदा के लिये पर होकर परमात्म पद प्राप्त करने की पात्र हमारी *आत्मा ... उन्हीं पाँच इन्द्रियों के विषयों की विष्टा में शयन करने ...* उसे ही चाटने एवं उसे ही खाने में

स्वयं को गौरवशाली मानती है।

हाय, आतमराम! तेरी यह शूकर के समान दुर्दशा किसने की? तनिक तो सोच!

''पौद्‌गलिक सुखों के साधनों की प्राप्ति में ही सुख है और उन साधनों को प्राप्त नहीं कर सकने पर अथवा अल्प प्रमाण में प्राप्त करने पर दु:ख है।'' इस पापपूर्ण चिन्तन ने चिन्तनशील जीवात्मा को मूढ बना दिया है और यह मूढ़ता ही मिथ्यात्व है तथा यह मिथ्यात्व ही सम्यग् दर्शन का कट्टर शत्रु है।

अब तनिक चिन्तन की दिशा में परिवर्तन करें।

हमें प्रभु महावीर का अमूल्य शासन प्राप्त हुआ है, क्षुद्र विषयों का आनन्द प्राप्त करने के लिये आत्मा के असीम एवं अनुपम आनन्द को खो देने को दुस्साहस हमें नहीं स्वीकार करना चाहिये।

महावीर का शासन हमें प्राप्त हुआ है तो महावीर नहीं तो हम महावीर की सन्तान तो बनें।

वीर की सन्तान का जीवन कैसे होता है?

उनका जीवन तो ऐसा होना चाहिये जो दूसरों के लिये प्रेरणा का आदर्श प्रस्तुत करता हो।

उनका सान्निध्य तो ऐसा होना चाहिये जो दूसरों को साहस एवं उत्साह प्रदान कर सके, प्रेम एवं वात्सल्य के अमृत का दान प्रदान कर सके।

यदि पाँच इन्द्रियों के विषय-विलास में उलझ गये तो स्मरण रखना-इस जीवन का अन्त तो भयावह होता ही, परन्तु परलोक में भी घातक दुर्गति हमारा पीछा नहीं छोड़ेगी। दुर्गतियों की उन दारुण व्यथाओं को क्या हम भोग सकेंगे? यदि नहीं तो फिर उन विषय-वासनाओं की अग्नि का स्पर्श करने और उससे लिपट कर उसका उपभोग करने की आत्म-घातक राह से लौट जायें और जिनाज्ञा को शिरोधार्य करके जीवन जीएं, जिनाज्ञानुसार सात्त्विक आनन्द पूर्ण जीवन जियें।

अनादि कालीन परिभ्रमण के पश्चात् प्राप्त यह मानव भव अब तो व्यर्थ नहीं खो देना चाहिये। इतना हम दृढ़ संकल्प करें। अनन्त जन्मों की पुण्य-राशि एकत्रित होने पर प्राप्त जिनशासन को हम सफल करें, सार्थक करें। हमारे प्रति किये गये तीर्थंकर भगवानों के अनन्त उपकार को हम सार्थक करें।

हमारे इस वर्तमान जीवन में भी कितने मनुष्यों का सहयोग, सहायता एवं उपकार है? उन सभी के उपकार को मानने वाले हम क्या परम तारणहार तीर्थंकर देवों का उपकार ही भुला देंगे? उन उपकारों का बदला चुकाने का तनिक भी सामर्थ्य हम में नहीं है, परन्तु उन अनन्त उपकारियों के उपकार के ऋण से उऋण होने के लिये कुछ प्रयत्न तो हमें अवश्य करने ही चाहिये। यह प्रयत्न अर्थात् प्रथमोक्त उपासनाओं के तीन प्रकार :-

1. सर्वविरति धर्म का स्वीकार।

2. देशविरति धर्म का स्वीकार और

3. इस सर्व विरति एवं देशविरति धर्म की प्राप्ति के लिये नींव की भूमिका रूपी मार्गानुसारी के पैंतीस गुणों का जीवन में आदर पूर्वक आचरण।

इन गुणों को विकसित करने के लिये जीवन के दृष्टिकोण में परिवर्तन लाना आवश्यक है, अनिवार्य है।

सृष्टि में परिवर्तन करना हमारे बस की बात नहीं है, परन्तु सृष्टि के प्रति अपना दृष्टिकोण बदलना यह अवश्य ही हमारे बस की बात है।

समस्त गाँव को घुमाया नहीं जा सकता, परन्तु बैलगाड़ी अवश्य घुमाई जा सकती है।

सम्पूर्ण नगर को बुहार कर स्वच्छ करना संभव नहीं है, परन्तु अपने घर का कूड़ा-कर्कट तो स्वच्छ किया ही जा सकता है न?

कण्टकों से आच्छादित समस्त पथ को कण्टक-विहीन कर डालना सम्भव नहीं है, परन्तु काँटों से बचने के लिये अपने पाँवों में तो जूते पहने जा सकते हैं न?

साँय-साँय करके चलने वाले भयानक तूफान से घर को बचाने के लिये आँधी-तूफान का शमन करना तो सम्भव नहीं है, परन्तु घर की खिड़कियों और द्वारों को तो पूर्णत: बन्द करके हम अपने घर को सुरक्षित अवश्य रख सकते हैं।

दृष्टिकोण में परिवर्तन करने के लिये जीवन में पैंतीस गुणों पर यथाशक्ति आचरण करना अत्यन्त अनिवार्य है, परन्तु उन गुणों की प्राप्ति के लिये जीवन में पात्रता की भी अनिवार्य आवश्यकता है। पौद्गलिक सुखों के साधनों की प्राप्ति में ही सुख और उनकी अप्राप्ति में ही दु:ख'' - इस दृष्टिकोण का परित्याग करना अत्यन्त आवश्यक है। तथा मुझे जीवन में ये सद्गुण प्राप्त करने ही हैं, ये मुझे अत्यन्त प्रिय हैं। इनके लिये मुझे समस्त भोगों का बलिदान देना पड़े तो भी मैं तत्पर हूँ।'' इस प्रकार की दृढ़ मान्यता रूपी पात्रता का हम अपने भीतर विकास करें।

तो .... पैंतीस गुण हमारे जीवन को नन्दन-वन बना देंगे। इन गुणों की सौरभ स्व-जीवन को ही नहीं, आपके आश्रितों को एवं आपसे परिचित एवं आपके सम्पर्क में आनेवाले प्रत्येक पुण्यात्मा को ज्योर्तिमय करेंगे, परम पद के पथ में एक पुण्य प्रकाशमय पाद मार्ग की लीक बनायेंगे।

प्रथम गुण
न्याय-नीति नवि छड़िये रे ...

न्यायसम्पन्नविभव:
(न्याय-सम्पन्न वैभव)

आराधक का अन्तिम ध्येय मोक्ष है। वह प्राप्त न हो तब तक संसार निश्चित है।

संसार में संयमी बन कर जी सकें तो सर्वोत्तम है। एक पैसा भी यदि हमारे पास नहीं हो तो समस्त जीवन व्यतीत किया जा सकता है, इस सत्य का साक्षात्कार है - जैन श्रमण का जीवन।

परन्तु जो आत्मा इस प्रकार का सर्वोत्तम संयम जीवन नहीं जी सकते, उन संसारी आत्माओं को संसार में जीवन यापन करने के लिये सम्पत्ति एक अनिवार्य साधन है।

तो इस साधन की प्राप्ति किस प्रकार की जाये? संसारी मनुष्यों के लिये वैभव आवश्यक है तो वह वैभव भी कैसा होना चाहिये? साधन स्वरूप सम्पत्ति साधन मिट कर यदि साध्य हो जाये तो कितना अनर्थ हो जायेगा?

इन समस्त प्रश्नों का समाधान आपको प्राप्त होगा .... इस गुण के पठन मनन में ...

मार्गानुसारी आत्मा का प्रथम गुण है - न्याय-सम्पन्न-वैभव।

मार्गानुसारी के पैंतीस गुणों में सर्व प्रथम गुण है ''न्याय-सम्पन्न वैभाव।''

आर्यावर्त की संस्कृति चार प्रकार के पुरूषार्थ को वरण की हुई है - (1) धर्म पुरूषार्थ, (2) अर्थ पुरूषार्थ, (3) काम पुरूषार्थ और (4) मोक्ष पुरूषार्थ।

इन चारों में मोक्ष प्रधान पुरूषार्थ है और धर्म उसे प्राप्त करने के लिये अनन्य सहायक पुरूषार्थ है। इस प्रकार यदि सच पूछा जाये तो धर्म और मोक्ष दो ही पुरूषार्थ हैं।

मोक्ष साध्य रूप पुरूषार्थ है।

धर्म साधन रूप पुरूषार्थ है।

आर्य देश में उत्पन्न प्रत्येक मानव का चरम लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति ही होना चाहिये। मानव-जन्म की सम्पूर्ण एवं वास्तविक सफलता तब ही है, जब इस जन्म में मोक्ष-प्राप्ति के लिये ही प्रधानत: साधना की जाती हो। इसे ही धर्म-साधना अथवा धर्म पुरूषार्थ कहा जाता है।

जिसके अन्तर में मोक्ष का ही लक्ष हो।

उसके अन्तर में धर्म का ही पक्ष हो।

मोक्ष सुख का कामी धर्म का ही पक्षधर होता है और धर्म का ही आराधक होता है।

परन्तु संसार के समस्त जीव केवल धर्म के ही आराधक हों, यह नहीं होता। प्रत्येक जीव का वर्ग उसकी योग्यता के अनुसार भिन्न भिन्न होता है।

इन वर्गों के हम इस प्रकार विभाग कर सकते हैं :-

1. सर्वविरतिधर आत्मा

जिनका केवल मोक्ष का ही लक्ष्य है, मोक्ष प्राप्ति की ही जिन्हें तीव्र लगन है, मोक्ष के अतिरिक्त जिन्हें अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता ही नहीं है, ऐसे केवल मोक्ष-लक्षी एवं उक्त मोक्ष को प्राप्त करने के लिये समग्र जीवन को पूर्णत: एवं उत्तम प्रकार से धर्ममय ढंग से यापन करने वाले पुण्यशाली।

श्री जिनेश्वर परमात्मा की आज्ञा को सदा सिरोधार्य करके उसकी आराधना करने वाले एवं समस्त सांसारिक पापों से पूर्ण विराम कर चुके पुण्यशाली आत्मा अर्थात् सर्वविरतिधर साधु महाराज एवं साध्वीजी महाराज।

ये साधु भगवान् मोक्ष पुरूषार्थ को ही ध्येय स्वरूप मानते है और उसकी प्राप्ति के लिये जो धर्म पुरुषार्थ की ही आराधना करते हैं तथा इनके अतिरिक्त दो पुरुषार्थ अर्थ एवं काम पुरूषाथ्र (जिन्हें सरल भाषा में 'धन प्राप्ति का पुरूषार्थ' और 'भोग सुखों के उपभोग का पुरूषार्थ' कहा जा सकता है) को वे पूर्णतया हेय, त्याज्य मानते हैं। इतना ही नहीं, अर्थ एवं काम पुरूषार्थ के वे पूर्णरूपेण त्यागी भी होते हैं।

2. देश विरति धर आत्मा

इन आत्माओं का भी लक्ष्य तो मोक्ष ही होता है और जिसके लिये वे धर्म पुरूषार्थ के आराधक भी होते हैं, परन्तु वे पूर्णतः एवं सम्पूर्ण जीवन पर्यन्त जिनाज्ञाओं का पूर्णरूपेण पालन नहीं कर सकते।

ये संसारी हैं, साधु नहीं है। इस कारण इन्हें अर्थ (धन) और काम (भोग) की आवश्यकता अवश्य होती है। फिर भी वे अर्थ और काम को पूर्णतः हेय मानकर भी उनकी प्राप्ति के लिये सम्यग् पुरूषार्थ अवश्य करते हैं, परन्तु इसमें भी यथा संभव समस्त पापों के वे त्यागी होते हैं।

मोक्ष पुरूषार्थ को ही प्रधान लक्ष्य स्वरूप मानने वाले और उसे प्राप्त करने के लिये धर्म पुरूषार्थ भी यथाशक्ति आराधक संसारी होने से अर्थ एवं काम को पूर्णरूपेण हेय मानते हुए भी उनके पूर्णतः त्यागी नहीं, फिर भी अर्थ एवं काम को प्राप्त करने के लिये किये जाने वाले अनेक पापों के त्यागी इन आत्माओं को शास्त्रों की भाषा में 'देशविरतिधर श्रावक' कहते हैं।

3. सम्यग्दृष्टि आत्मा

इन आत्माओं का लक्ष्य भी मोक्ष ही होता है और इनका पक्ष भी धर्म का ही होता है और इस कारण ही धर्म-विरोधी अर्थ एवं काम को वे सर्वथा त्याज्य मानते हैं, फिर भी वे इनके त्यागी नहीं होते।

ये आत्मा भी देश विरतिधर आत्माओं की तरह संसारी ही हैं और इस कारण ही इन्हें भी संसार चलाने के लिये अर्थ और काम की आवश्यकता तो पड़ती ही है। फिर भी वे अर्थ तथा काम को उत्तम (उपादेय) अर्थात् प्राप्त करने योग्य तो कदापि नहीं मानते। तो भी वे देशविरति श्रावकों की तरह अमुक अंश में भी अर्थ एवं काम के पापों के त्यागी नहीं हो सकते।

अर्थ एवं काम के पापों को त्याज्य मानकर भी वे उनका परित्याग नहीं कर सकते। अपनी ऐसी आत्मदशा पर इन आत्माओं को अत्यन्त खेद होता है, सन्ताप होता है, मानसिक वेदना होती है।

कारागृह में कैद कैदी को कारागृह तनिक भी प्रिय नहीं लगता, फिर भी वह उस बन्धन से युक्त नहीं हो सकता। उसका मन तो सदा कारागार से मुक्त होने के रंग-बिरंगे स्वप्नों में ही प्रसन्न होता रहता है। ठीक इसी प्रकार की मनोदशा इन आत्माओं की होती है।

संसार के अर्थ एवं काम को अत्यन्त हेय मानने पर भी कर्मों के किन्हीं अकाट्य बन्धनों में वे ऐसे जकड़े हुए होते हैं कि वे अर्थ एवं काम का परित्याग नहीं कर सकते। फिर भी इनका मन नित्य मोक्ष-प्राप्ति की रटन करता रहता है - "मैं कब मोक्ष प्राप्त करूंगा? और मोक्ष के अनन्य कारण रूप मुनि जीवन को कब मैं अपना सकूँगा?" इस प्रकार की मंगल मनोदशा में इनकी आत्मा झूमती रहती है। इस प्रकार की आत्माओं को शास्त्रीय भाषा में सम्यग्दृष्टि श्रावक कहते हैं।

4. मार्गानुसारी आत्मा

इन जीवों की दशा सम्यग्दृष्टि आत्माओं की पूर्व भूमिका स्वरूप है। इस कारण ही इन्हें मोक्ष के प्रति अभि रूचि होती है। इन्हें मोक्ष प्रिय लगता है और उस मोक्ष की प्राप्ति कराने वाला धर्म भी प्रिय लगने लगता है।

परन्तु ये जीव यह भी मानते हैं कि संसार में हैं तो अर्थ और काम भी आवश्यक हाँ ये अर्थ और काम धर्म का विनाशक नहीं होना चाहिये। धर्म को हानि नहीं पहुँचे उस प्रकार से अर्थ एवं काम को प्राप्त करने में तनिक भी आपत्ति नहीं है।

इस प्रकार ये जीव केवल मोक्ष-लक्षी एवं धर्म के पक्षधर ही नहीं होते, बल्कि वे इनके साथ ही साथ अर्थ एवं काम के भी पक्षधर होते हैं।

यद्यपि अर्थ एवं काम को उपादेय मानकर प्राप्त करने में अनेक भयस्थान हैं, ऐसी आत्मा कब, किस क्षण भयंकर पापों की गहरी खाई में गिर पड़े उसका कोई विश्वास नहीं है। फिर भी ये आत्मा अर्थ एवं काम को उपादेय मानती हैं, उसी प्रकार से मोक्ष एवं धर्म को भी उपादेय (प्राप्त करने योग्य) मानती हैं, मोक्ष एवं धर्म के प्रति इनकी अभिरूचि होती है। इस कारण ही इन्हें इस अपेक्षा से 'उत्तम' अवश्य कहा जा सकता है और इस दृष्टि से ही इन आत्माओं को मार्ग (मोक्ष) का अनुकरण करने वाले अर्थात् 'मार्गानुसारी' कहा जाता है।

''अर्थ एवं काम को तो प्राप्त करना ही चाहिये। इनकी विचारधारा का यह प्रथम चरण अनुचित है, अधर्म-स्वरूप है, फिर भी ये अर्थ एवं काम धर्म में बाधक नहीं होने चाहिये।'' इनकी विचारधारा का यह द्वितीय चरण उचित होने से, धर्म स्वरूप होने से ही इन्हें 'मार्ग का अनुकरण करने वाले' माना जाता है।

मार्गानुसारी आत्मा धीरे धीरे आगे बढ़ने से विशेष प्रकार से सद्गुरु भगवंतों का योग आदि प्राप्त होने पर सम्यग्दर्शन भी प्राप्त कर लेते हैं और इससे भी आगे बढ़ने पर देशविरति एवं सर्व-विरति धर्मों का भी स्पर्श कर लेते हैं।

(5) मिथ्यादृष्टि आत्मा

ये आत्मा आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वथा हीन कक्षाके हैं। हाँ, भौतिक दृष्टि से ये अत्यन्त आगे बढ़े हुए भी हो सकते है।

* कदाचित् करोड़पति अथवा अरबपति भी हो सकते हैं।
* कदाचित् अत्यन्त रूपवती रमणी के ये स्वामी भी हो सकते हैं।
* कदाचित् ये किसी शासन की विशिष्ट सत्ता के स्वामी भी हो सकते हैं।
* कदाचित् वे सुन्दर एवं बुद्धिमान् सन्तानों के पिता भी हो सकते हैं।
* कदाचित् वे समाज अथवा राष्ट्र में अत्यन्त प्रतिष्ठित पदधारी अग्रगण्य व्यक्ति भी हो सकते हैं।

* कदाचित् वे विशिष्ट प्रकार की वक्तृत्व-शक्ति के स्वामी तथा सहस्रों मनुष्यों को अपनी ओर आकर्षित करके मानव-मेदिनी एकत्रित करने में कुशल भी हो सकते हैं।

भौतिक समृद्धि के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचे हुए उन व्यक्तियों के अनेक स्वरूप हो सकते हैं, परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से चिन्तन करने पर वे पूर्णत: 'हीन' होते हैं, क्योंकि उन्हें मोक्ष की ओर तनिक भी रूचि नहीं होती। मोक्ष के लक्ष्य की बात तो दूर रही, परन्तु मोक्ष का नाम सुनते ही मानो सहस्रों चींटियाँ उन्हें डंक मार नहीं हो, उस प्रकार की उन्हें व्यथा होती है। इतना ही नहीं, मोक्ष का वर्णन करने वाले साधु भगवन्तों पर भी उन्हें क्रोध आता है।

जिन व्यक्तियों को मोक्ष प्रिय नहीं लगता, उन्हें भला धर्म प्रिय कैसे लग सकता है? उपलक दृष्टि से कदाचित् वे धर्म करते हों तो भी वह उनका केवल बाह्य आड़म्बर होता है, अथवा वे गतानुगतिकता से एक करता है अत: दूसरा भी करता है - इस प्रकार भेड चाल की तरह होता है। इस प्रकार के उनके धर्म में कुछ भी महत्व नहीं होता। इस कारण ही उन्हें वास्तविक अर्थ में धर्म पुरूषार्थ के साधक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'धर्म पुरूषार्थ' तो वहीं होता है जो मोक्ष का लक्ष्य करके किया जाता हो। इन आत्माओं को तो मोक्ष तो तनिक भी प्रिय नहीं होता, फिर उनके धर्म को मोक्ष-लक्षी नहीं होने से धर्म पुरूषार्थ कैसे कहा जा सकता है।

हाँ, ये अर्थ एवं काम को प्राप्त करने योग्य अवश्य मानते हैं। उन्हें त्याग करने की बुद्धि उनमें नहीं होती। इस कारण ये अर्थ और काम की प्राप्ति के लिये सदा तत्पर रहते हैं। जहाँ जहाँ से, जिस जिस प्रकार से अर्थ और काम प्राप्त हो सकते हों, उन्हें प्राप्त करने के लिये ये सदा दौड़-धूप करते रहते हैं, क्योंकि अर्थ एवं काम अधिकाधिक प्राप्त करने से इस लोक में अवश्य सुखी हो सकते है, इस प्रकार की उनकी मान्यता होती है।

इन्हें प्राप्त करने में यदि अन्याय एवं अनीति का आश्रय लेना पड़ता हो, चोरी, विश्वासघात अथवा कपट ढंग से हो सकते हों तो उन्हें करने में भी उन्हें कोई आपत्ति प्रतीत नहीं होती, क्योंकि ये पाप-कर्म करते समय उनके मन में तनिक भी यह विचार नहीं होता कि परलोक में हमारा क्या होगा? इनका तो प्रमुख सूत्र होता है कि - ''यह भव मीठा तो परभव कौन दीठा?''

मोक्ष के कट्टर विरोधी, अत: धर्म के भी आराधक नहीं होते तथा किसी भी कीमत पर अर्थ-काम को प्राप्त करने में तत्पर होने के कारण इन्हें शास्त्रकार 'मिथ्यादृष्टि' (मिथ्यात्वी) अथवा महा मिथ्यादृष्टि (महा मिथ्यात्वी) कहते हैं।

इस प्रकार हमने पाँच प्रकार की आत्माओं के सम्बन्ध में चर्चा की :-
(1) सर्व विरतिधर (साधु अथवा साध्वी), (2) देशविरतिधर (3) सम्यग्दृष्टि, (4) मार्गानुसारी और (5) मिथ्यादृष्टि।

उपर्युक्त पाँचों में से 'मार्गानुसारी आत्मा' के जीवन में कैसे कैसे गुण होते हैं उनके विषय में

हमें यहाँ चिन्तन करना है।

धन से सुख के साधन प्राप्त होते हैं, शान्ति नहीं -

हम यह देख चुके हैं कि मार्गानुसारी आत्माओं की मोक्ष एवं धर्म के प्रति अभिरूचि होती है तो भी अर्थ एवं काम के प्रति भी उनकी अभिरूचि होती है। इतना ही नहीं वह अर्थ एवं काम को उपादेय (प्राप्त करने योग्य) मानता है, परन्तु फिर भी उसकी विचारधारा का यह भी शुभ अंश है कि अर्थ एवं काम की प्राप्ति में धर्म का नाश नहीं होना चाहिये।

संसारी जीव को योग-सुख प्राप्त करने पड़ते हैं यह बात समझ में आती है। योग सुखों को ही काम कहते हैं। इस कारण ही काम पुरूषार्थ का अर्थ हम काम भोग लगाते हैं और काम-भोग तथा भोग-सुख दोनों एक ही हैं।

इन काम-भोगों (भोग-सुखों) को प्राप्त करने के लिये अर्थ अर्थात् धन की आवश्यकता अनिवार्य है। संसारी मनुष्यों को भोग-सुख प्राप्त करने के लिये भोग के साधनों की आवश्यकता होती है और भोग के साधन अर्थ (धन) के बिना प्राप्त होते ही नहीं, यह सर्वथा सत्य है।

परन्तु हमें नहीं मान लेना है कि धन से प्राप्त भोग-सुख के साधन जीव को निश्चित सुख प्रदान कर सकते हैं। धन से तो भोग-सुख के साधन ही प्राप्त होते हैं, परन्तु यह विश्वास पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इससे सुख एवं शान्ति अवश्य प्राप्त होगी ही।

संसार में ऐसे लाखों मानव है कि जो अपार समृद्धि होने पर भी हृदय से सुखी नहीं हैं।

धनवान-स्त्री का करुण क्रन्दन

बम्बई के वालकेश्वर स्थित तीस लाख रूपयों के मूल्य के एक फ्लैट की निवासी एक धनवान परिवार की महिला एक मुनिराज के समीप आकर बिलख-बिलख कर रोने लगी। मुनिराज ने उसे पूछा-''बहन! तुम और यह क्रंदन? क्यों? किसलिये? मुझे समझ में नहीं आ रहा।''

तब उस महिला ने कहा, ''पूज्य श्री मेरे समान दुःखी महिला संसार में कोई नहीं होगी।''

मुनिराज ने पूछा, ''बहन तुम्हें क्या कमी है? क्या कष्ट है? तुम्हारे पास तो करोड़ों की सम्पत्ति है, फिर भी तुम इस प्रकार रोती क्यों हो?''

इस पर उस महिला ने कहा, ''मुनिराज! मेरा दुःख धन से सम्बन्धित नहीं है। धन तो मेरे पास अपार है, सुन्दर सुख-सुविधाओं वाला फ्लैट, फर्स्ट क्लास तीन-तीन मर्सीड़ीज कार हैं, नौकर-चाकर, सन्तान सब कुछ हैं, फिर भी मैं अत्यन्त दुःखी हूँ।''

वह आगे बोली, ''धन ही मेरे दुःख का मूल है। मेरे पति के पास अपार धन होने से ही वे रात को क्लबों में जाकर पर-स्त्रियों के साथ नृत्य करते हैं और मदिरा का पान करके रात्रि में ड़ेढ-दो बजे घर आते हैं, बहुत बकवास करते हैं, कभी कभी तो नशे में चूर होकर वे मुझे बुरी तरह पीटते हैं। मेरे पुत्र ये सब दृश्य देख रहे हों तो भी वे स्वयं पर नियन्त्रण नहीं रख पाते। पूज्य महाराजजी! अब

आप ही बताइये-इस सब का मेरे सुकोमल बालकों पर कैसा विपरीत प्रभाव होता होगा? उनके भविष्य के विषय में सोचकर में काँप उठती हूँ। मैं दिन में जो कुछ संस्कार उनमें ड़ालती हूँ, उन सब पर पति के रात्रि के व्यवहार से पानी फिर जाता है। महाराजजी! इस धन-सम्पत्ति ने तो हमारे घर का सर्व नाश कर दिया है। गुरुदेव! हमें किसी भी प्रकार से बचाइये।''

जिस धन से शान्ति प्राप्त न हो उसका क्या मूल्य?

अपार धन-सम्पत्ति भी धनवान स्त्री का रूदन शान्त नहीं कर सकती, तो बताइये धन-सम्पत्ति ने क्या दिया? केवल भोग अर्थात् वैभव का अम्बार लगा दिया, परन्तु इतने सारे भोग-वैभव एकत्रित होकर भी उन धनवानों को सुख प्रदान नहीं कर सके, सद्‌गुणों की सुगन्ध से जीवन को समृद्ध नहीं कर सके।

तो फिर धन से प्राप्त होने वाले भोग-सुखों के उन साधनों का मूल्य क्या? जो जीवन में सुख प्रदान न करें, सद्‌गुण उत्पन्न न करें, प्रसन्नता प्रदान न करें।

शान्ति प्राप्त करने के लिये 'नीति' की अनिवार्यता -

भोग-वैभव प्राप्त हुए फिर भी सुख एवं शान्ति प्राप्त करने के लिये, चित्त की प्रसन्नता एवं सद्‌गुणों की प्राप्ति हेतु क्या करना चाहिये? इसका उत्तर यही है कि धन को नीति से उपार्जन करो।

जो मनुष्य धनोपार्जन में नीति पर चलेंगे वे जो धन उपार्जन करेंगे, उससे उन्हें भोग (वैभव) तो प्राप्त होंगे ही और साथ ही साथ नीति के धर्माचरण के कारण उन्हें शान्ति, स्वस्थता और प्रसन्नता भी प्राप्त होगी।

नीतिपूर्वक उपार्जित धन में सुख, शान्ति एवं स्वस्थता प्रदान करने की शक्ति है, परन्तु अन्य व्यक्तियों को भी जो नीतिवान का धन लेते हैं उन्हें भी स्वस्थता एवं शान्ति प्राप्त होती है। कभी कभी तो नीतिवान व्यक्ति का धन दूसरों का भी जीवन परिवर्तित कर देता है। इसी प्रकार नीति हीन व्यक्ति का धन उसका सुख-शान्ति तो हरता ही है, परन्तु उसे स्वीकार करने वाले की भी सुख-शान्ति नष्ट हो जाती है और कदाचित् उल्टे मार्ग पर भी ले जाता है।

नीतियुक्त धन का अद्‌भुत प्रभाव

मोहनपुर नगर के राजा मोहनसिंह का किला किसी प्रकार भी बन नहीं पा रहा था। तनिक निर्माण-कार्य होते ही ढह जाता। राजा ने इसके लिये अत्यन्त विचार किया, परन्तु उसे कोई उपाय नहीं सूझा। अन्त में उसने मंत्रीश्वर को इसका कोई उपाय ढूँढने के लिये कहा।

मंत्री अत्यन्त चतुर था। उसने अनुमान लगाया कि ''इसका कारण इस क्षेत्र का अधिष्ठाता देव अतृप्त होना चाहिये। उसे तृप्त करने के लिये किसी नीतिवान् व्यापारी का धन किले की तह में गाड़ना चाहिये।'' उसने नगर के एक अत्यन्त नीतिवान् व्यापारी की दस स्वर्ण-मुद्राऐं लाकर किले के नीचे गाड़दीं।

और सचमुच किले का निर्माण पूर्ण हो गया, किला बन कर तैयार हो गया। जब मंत्री ने राजा को इस तथ्य से भगवत कराया तो उसे विश्वास नहीं हुआ कि नीति के धन का इतना अद्भुत प्रभाव हो सकता है।

मंत्री ने राजा को विश्वस्त करने का निर्णय किया। वह दूसरे दिन उसी नीतिवान् व्यापारी से और दस स्वर्ण-मुद्राऐं ले आया और उसने वे एक मछुए को दे दीं। मंत्री ने राजा को कोषागार की दस स्वर्ण-मुद्राऐं एक संन्यासी को दीं।

जब मछुए को वे स्वर्ण-मुद्राऐं दी गई तब वह मछलियाँ पकड़कर उन्हें अपने घर लेजा रहा था। नीति की दस स्वर्ण-मुद्राओं के प्रभाव से मछुए का हृदय-परिवर्तन हो गया। उसे अपने हिंसक पापी जीवन के प्रति घृणा हो गई और उसने संन्यास ग्रहण कर लिया।

राज्य-कोष की दस स्वर्ण मुद्राऐं जिस संन्यासी को दी गई थी, उस संन्यासी को अत्यन्त पश्चाताप होने लगा - ''अरे! यह मैंने क्या किया? जीवन के अमूल्य वर्षों को भोग-विलास में व्यतीत करने के बदले मैंने उन वर्षों को साधु-जीवन के तप-त्याग में बर्बाद कर दिये, परन्तु कोई बात नहीं। अब भी कोई विलम्ब नहीं हुआ। जितने भोगों का आनन्द ले सकूँ उतने भोगों का मैं इस जीवन में आनन्द ले लूँ।''

यह सोच कर उस संन्यासी ने संन्यास त्याग दिया और उस मछुए का जाल लेकर वह मछुआ हो गया।

नीति से अर्जित स्वर्ण-मुद्राओं ने मछुए को साधु बना दिया।

अनीति की राज्य-कोष की स्वर्ण-मुद्राओं ने संन्यासी को मछुआ बना दिया।

राजा ने जब इस प्रकार दो जीवों के जीवन-परिवर्तन की बात सुनी तब उसने यह सत्य स्वीकार किया कि -

''नीति का धन जीवन सुधार देता है और

अनीति का धन जीवन नष्ट कर देता है ...।''

सदा नीति पर चलने वाले मनुष्य के घर में भी यदि जाने-अनजाने अनीति का धन आ जाये तो उसके जीवन की शान्ति एवं स्वस्थता भी नष्ट हो जाती है।

पुनिया श्रावक की नीतिपरकता

चौबीसवे तीर्थपति श्रमण भगवान महावीरस्वामी ने जिसके सामायिक धर्म की समवसरण में प्रशंसा की थी, उसी पूनिया श्रावक की यह बात है। राजगृही नगरी में एक सर्व श्रेष्ठ श्रावक था। जो अत्यन्त दीनता में भी सदा मस्त रहता था। धन-हीन वह मन का महान् धनी था। करोड़ों स्वर्ण-मुद्राओं के स्वामी के पास भी जैसी सामायिक की साधना न हो ऐसी सामायिक की साधना पुनिया की थी।

पुनिया का नीति से जीवन व्यतीत करने का प्राण था। अनीति की लाल पाई भी अपने घर में न आ जाये उसकी वह सतत सावधानी रखता और कदाचित् इस कारण ही वह अत्यन्त निर्धन था। इतनी निर्धनता में भी वह नित्य एक सहधर्मी की भक्ति अवश्य रहता था। इसके लिये वह और उसकी धर्म-पत्नी एक दिन छोड़ कर उपवास (व्रत) करते। उसकी धर्म-पत्नी भी धर्म की ज्वलन्त मूर्ति तुल्य थी।

एक दिन पुनिया सामायिक करने के लिये बैठा, परन्तु उसका चित्त उस दिन सामायिक में नहीं लग रहा था। अत्यन्त श्रम करने पर भी उसके चित्त में एकाग्रता उत्पन्न नहीं हो रही थी।

पुनिया ने सामायिक पूर्ण करने के पश्चात् अपनी पत्नी को पूछा, - ''आज अपने घर में अनीतिका कुछ न कुछ आ गया था। क्यों ठीक है न?''

तब उसकी पत्नी ने स्पष्ट इनकार किया। पुनिया ने पुन: कहा, ''तू अच्छी तरह सोच कर उत्तर देना, क्योंकि आज मेरा मन सामायिक में लग ही नहीं रहा था। ऐसा कभी नहीं हुआ। इससे प्रतीत होता है कि निश्चित रूप से कुछ गड़बड़ी होनी चाहिये। हमारे घर में अनीति का कुछ भी आया होना चाहिये, अन्यथा मेरे मन की प्रसन्नता कभी कम नहीं होती।''

कुछ समय तक सोचने के पश्चात् उसकी धर्म-पत्नी को अचानक कुछ स्मरण हुआ और वह बोली, ''स्वामिनाथ! पड़ोसी के उपलों के पास हमारे उपल भी पड़े हुए थे। हमारे उपले लाते समय एक-दो उपले भूल से उनके भी हमारे घर में आ गये हों, ऐसा प्रतीत होता है। उतावल में मेरी भूल हो जाने की संभावना है।''

पुनिया ने तुरन्त कहा, ''बस, ठीक है। सामायिक में एकाग्रता नहीं आने का कारण मुझे ज्ञात हो गया।''

''जा, तुरन्त जा और पड़ोसी का उपला उन्हें लौटा कर सा।''

और जब वह पड़ोसी को उपला लौटा आई तब ही पुनिया को शान्ति मिली। पति की इतनी सावधानी देखकर पत्नी के अन्तर में ऐसे पति की पत्नी बनने का गौरव उभर आया।

यदि अनीति का एक उपला (कण्ड़ा) पुनिया के चित्त की प्रसन्नता का हरण कर सकता है तो जिस व्यक्ति के जीवन में अनीति-अन्याय, झूठ-विश्वासघात और मेल-मिलावट की अपार कमाई प्रविष्ट हो चुकी हो ऐसे व्यक्तियों के सुख-शान्ति पूर्णत: नष्ट हो जायें तो आश्चर्य ही क्या है? उस प्रकार के मनुष्य धन होते हुए भी निर्धन की सी मनोदशा का अनुभव करते हो, भोग-सुखों के होते हुए भी वे भिखारी की सी अन्तर्दशा भोग रहे हों, उसमें तनिक भी आश्चर्य की बात नहीं है।

शास्त्रों का उपदेश-नीति विषयक

'नीति से ही धन उपार्जन करना चाहिये' - जैन शास्त्रकारों के ऐसे उपदेश को अत्यन्त मार्मिकता से समझने की आवश्यकता है, अन्यथा महान् अनर्थ हो सकता है।

शास्त्रकारों का सर्व प्रथम उपदेश तो यही है कि - 'धनोपार्जन ही पाप है।' धन के बिना जीवन यापन करने की धन्य स्थिति जैन मुनियों की ही है। उनका जीवन विश्व में एक आश्चर्य स्वरूप कहा जा सकता है। धन के बिना भी वे आनन्दमय जीवन जी सकते हैं और बिना सन्तानों के भी वे समस्त विश्व के साथ पारिवारिक भावना के साथ विश्व मैत्री की आराधना करते रहते हैं।

जो लोग इस प्रकार का धन्य मुनि-जीवन नहीं जी सकते, उन संसारी मनुष्यों के लिये धनोपार्जन अत्यन्त अनिवार्य हो जाता है। यदि संसारी मनुष्य 'धन उपार्जित करना पाप है' यह सोच कर भिक्षा माँगने लगें तो वह अत्यन्त बुरा है।

श्रावक भिक्षा माँग कर जीवन यापन करे वह अत्यन्त बुरा है। इसकी अपेक्षा नीतिपूर्वक धन उपार्जन करना कम बुरा है। बड़ी बुराई का त्याग करने के लिये छोटी बुराई अपनानी पड़े तो उसमें कुछ भी अनुचित नहीं है। श्रावक का लक्ष्य सदा धनोपार्जन का नहीं है - चाहे वह नीति से ही क्यों न हो। उसका लक्ष्य तो साधुत्व प्राप्त करना ही होता है। परन्तु जब तक यह लक्ष्य सफल नहीं हो तब तक तो नीतिपूर्वक धनोपार्जन की प्रवृत्ति उसे शुरु ही रखनी पड़ती है न?

अब जब धनोपार्जन करना ही आवश्यक है तो शास्त्रकार उन आत्माओं को कहते हैं कि - ''यदि तुम्हें धनोपार्जन करना ही पड़ता हो तो उसे नीतिपूर्वक ही उपार्जन करना, अनीति से कदापि उपार्जित मत करना। धनोपार्जन तक पाप है और उसमें अनीति करना उससे भी अधिक पाप है। इस प्रकार के दो दो पाप तो तू मत ही करना।''

इस प्रकार शास्त्रकार संसारी मनुष्य की धनोपार्जन करने की प्रवृत्ति को नीति नामक धर्म से युक्त करने की बात कहते हैं। अत: स्पष्ट है कि शास्त्रकारों का अनुमोदन संसारी मनुष्य के नीति नामक धर्मका है, धन की प्राप्ति की प्रवृत्ति का तनिक भी अनुमोदन नहीं है।

अर्थ पुरूषार्थ 'पुरूषार्थ' स्वरूप तब ही होता है जब उसे नीति नामक धर्म के साथ जोड़ दिया जाये। जिस अर्थ-प्राप्ति का उद्यम नीतिपूर्वक नहीं है, उसे शास्त्रकार 'अर्थ पुरूषार्थ' नहीं कहते। उसे तो केवल अर्थ (धन) प्राप्त करने का परिश्रम ही कहा जा सकता है।

इस प्रकार शास्त्रकार धनोपार्जन के द्वारा वैभव प्राप्त करने का उपदेश कदापि नहीं देते, परन्तु जब संसारी मनुष्य 'वैभव' तो प्राप्त करने ही वाला है और उसके लिये धनोपार्जन का पुरूषार्थ करने ही वाला है तब वह नीतिपूर्वक पुरूषार्थ करे यही उनका उपदेश है।

'न्याय-सम्पन्न वैभव' का रहस्यार्थ यदि ठीक तरह से नहीं समझा जाये तो भारी अनर्थ हो सकता है।

बिल्कुल यही बात काम-पुरूषार्थ में भी समझ लेने योग्य है। 'काम' का अर्थ यदि मुख्यत: 'काम-वासना' लें तो काम-वासना की तृप्ति के लिये संसारी मनुष्य 'विवाह' किये बिना रहने वाला ही नहीं है तो शास्त्रकार उसे 'विवाह कैसे व्यक्ति के साथ करना चाहिये' आदि बातें समझाते हैं।

यहाँ यह भी अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि शास्त्रकारों का उपदेश 'विवाह करना' ऐसे विवाह-विषयक विधान करने का नहीं है, परन्तु 'समान गोत्र के व्यक्ति के साथ विवाह नहीं करना चाहिये' इस प्रकार समान गोत्र में विवाह का निषेधक है।

काम-पुरूषार्थ को भी यदि सदाचार रूपी धर्म से युक्त नहीं बनाया जाये तो वह काम-पुरूषार्थ नहीं रहता। वह तो केवल काम-भोगों का अखाड़ा ही कहा जायेगा, भोग-सुखों की विष्टा को चूँथने का पशुओं का सा प्रयास ही कहा जायेगा और जब काम को सदाचारों-सुसंस्कारों आदि से नियन्त्रित करना हो तो भिन्न गोत्र वालों के साथ विवाह आदि सांस्कृतिक व्यवस्था को स्वीकार करने योग्य मानी गई है।

धन की लालसा सभी को जलायेगी

जब तक जिस व्यक्ति के हृदय में धन के प्रति अत्यन्त आसक्ति होगी, जीवन का उत्कृष्ट साध्य धन ही होगा, वह व्यक्ति प्राय: समस्त प्रकार के पाप करने के लिये तत्पर हो जायेगा। उसके कषाय, उसकी वासनाऐं, उसकी धन-भूख की भूखी प्रवृत्तियाँ उसे तो जलायेंगी ही, परन्तु उसके आश्रितों एवं उसके सम्पर्क में आने वालों सबको वह जलाये बिना नहीं रहेंगी।

धन की अत्यन्त लालसा उसे इस जीवन में भी सुख और शान्ति प्रदान नहीं करेगी, क्योंकि धन का तीव्र लालची व्यक्ति नीति अथवा अनीति के नियमों को तोड़-फोड़कर फैंक देगा, जिससे उसका यह जीवन वास्तविक सुखमय नहीं रहेगा।

इस जीवन में सुख नहीं मिलने पर वह शान्त भी नहीं होगा। परलोक में उसके लिये दुर्गतियों के द्वार खुलकर राह देखते होंगे, कषाय, संक्लेश एवं निरन्तर अपनी ही उदर-पूर्ति कर डालने की विकराल वृत्तियाँ उसे कहीं भी चैन से जीने नहीं देंगी।

काम-पुरूषार्थ की अपेक्षा अर्थ-पुरूषार्थ अधिक भयानक

अध्यात्म-सार नामक ग्रंथ में पूज्य न्याय विशारद, न्यायाचार्य महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज ने अर्थ पुरूषार्थ को काम-पुरूषार्थ की अपेक्षा अधिक भयानक बताया है। यदि काम-पुरूषार्थ 'अधम' है तो अर्थ-पुरूषार्थ 'अधमाधम' है, क्योंकि काम-भोगों को भोगने की भी एक मर्यादा होती है। मनुष्य भोग भोगकर कितने भोगेगा? कब तक भोगता रहेगा? उसकी भी एक निश्चित मर्यादा है।

काम-भोगों का उपभोग करके मनुष्य थकता है। उसे विराम की अवश्यकता होती है। इस कारण ही काम-भोग मर्यादित है, जबकि अर्थ-पुरूषार्थ की कोई मर्यादा नहीं है। अमुक धन-राशि प्राप्त पर अर्थ की वासना तृप्त हो ही जायेगी, यह निश्चित नहीं है।

आपको यदि कोई पूछे, ''कितना धन प्राप्त होने पर आप सन्तुष्ट हो जायेंगे?'' तो क्या इसका कोई निश्चित उत्तर है आपके पास? नहीं, दस हजार वाला व्यक्ति लखपति बनने का,

लखपति व्यक्ति दस लाख का स्वामी बनने का, दस लाख का स्वामी करोड़पति बनने का, करोड़पति अरबपति बनने का और अरबपति खरबपति बनने का स्वप्न देखना ही रहता है। अर्थ की वासना का कहीं भी अन्त नहीं है। इस कारण ही इसे 'अधमाधम' कहा गया है।

प्राप्त उत्तम मानव-भव यों ही धन-प्राप्ति की लालच ही लालच में नष्ट हो जाये और उस धन को प्राप्त करने के लिये समस्त प्रकार के पाप जीवन पर नियन्त्रण कर लें, यह अत्यन्त अयोग्य ही है।

इस प्रकार न हो जाये इसलिये, उत्तम जीवों का जीवन नष्ट न हो जाये इसलिये शास्त्रकारों ने मार्गानुसारी गुणों में सर्व प्रथम 'न्याय-सम्पन्न-वैभव' को बताया है।

यदि 'वैभव' प्राप्त करना ही है तो वह भी न्याय-नीति से ही प्राप्त करना चाहिये, अनीति से कदापि नहीं। यदि इतना दृढ संकल्प ही कर लिया जाये तो धन के प्रति भयानक लालसा को भी निश्चित रूप से धक्का लग सकता है और हम अनेक पापों से बच सकते हैं।

दूसरे को दुःख पहुँचाने वाला सुखी नहीं होता

अनीति का धन जीवन को शान्ति क्यों नहीं प्रदान करता? यह समझने योग्य है।

जब जब जो जो मनुष्य अनीति का आचरण करते हैं, अन्याय, मेल-मिलावट, झूठ अथवा विश्वासघात करते हैं उनसे जिनके साथ अनीति आदि का आचरण किया जाता है उन्हें निश्चित रूप से आघात आदि लगता है। जिसके साथ अनीति की गई हो, उसे जब अमुक समय के पश्चात् पता लगता है तब उसे घोर कष्ट होता है और अपने साथ अनीति करने वाले के प्रति उसके हृदय में घोर तिरस्कार की भावना उत्पन्न होती है।

अब यदि आपने दूसरे को कष्ट पहुँचाया तो आप सुख किस प्रकार प्राप्त करोगे? प्रकृति का यह एक नियम है कि "जो दूसरे को कष्ट पहुँचाता है वह स्वयं दुःखी होता है, जो दूसरे को सुख पहुँचाता है वह स्वयं सुख प्राप्त करता है, जो दूसरे की हत्या करता है, उसकी स्वयं की हत्या होती है और दूसरे को जीवन प्रदान करने वाला स्वयं जीवन प्राप्त करता है।"

अनीति करके आप दूसरे के लिये दुःखदायी बने हैं तो आप सुखी कैसे हो सकेंगे? और कदाचित् आपका पापानुबंधी पुण्य-कर्म भारी होगा तो उस पुण्योदय से आप वैभवशाली बन सकेंगे, धनी बन जायेंगे, परन्तु उस वालकेश्वर की धनवान स्त्री की तरह भीतर से अत्यन्त अशान्त बन चुके होंगे, आपको कहीं भी सुख और शान्ति प्राप्त नहीं होगी।

"हाय ! मेरे बीस हजार !"

रमेश और सुरेश दो सगे भाई थे। रमेश बड़ा था और सुरेश छोटा था। वे दोनों साथ साथ धंधा करते थे। उनकी बम्बई में किराने की बड़ी दूकान थी। बारी बारी से दोनों भाई दूकान पर बैठते थे।

एक दिन सुरेश दूकान पर बैठा हुआ था। उस समय उसके हृदय में विचार आया, ''मुझे अपनी स्वयं की कुछ व्यक्तिगत सम्पत्ति भी एकत्रित करनी चाहिये, समय खराब है। यदि बड़े भाई के साथ कल कोई झगड़ा पड़ जाये तो मेरे पास क्या रहेगा?''

और उस दिन से ही उसने पेटी में से थोड़ी-थोड़ी धन राशि उठानी प्रारम्भ कर दी। व्यवसाय बड़ा होने के कारण रमेश को इस बात का तनिक भी आभास नहीं हुआ। एकत्रित धन-राशि को सुरेश ने उसी दूकान के अमुक भाग में खड्डा खोद कर छिपानी प्रारम्भ की। इस प्रकार उसने बीस हजार रूपये एकत्रित कर लिये।

एक बार किसी कारणवश सुरेश अपने गाँव गया। इधर बम्बई में अचानक साम्प्रदायिक दंगा हो गया। इनकी दूकान मुसलमानों के मुहल्ले में थी। अत: रमेश ने देखा कि यहाँ रहने में प्राणों को खतरा है। अत: उसने सामान सहित पूरी दूकान किसी को बेच दी और वह भी अपने गाँव चला गया।

इस ओर जब सुरेश को यह ज्ञात हुआ कि रमेश ने पूरी दूकान बेच दी है, तब उसे अत्यन्त आघात लगा, जिससे वह पागल हो गया। उसके मुँह से एक ही पुकार निकलती ''हाय! मेरे बीस हजार, हाय, मेरे बीस हजार?'' इस प्रकार ज्येष्ठ भ्राता के साथ किये गये विश्वासघात पूर्वक धन-संचय के पाप ने सुरेश का जीवन बर्बाद कर दिया।

विश्वासघात का धन जीवन का सुख-शान्ति को सरे आम आग लगा देता है, इस तथ्य को स्पष्ट करने वाली तक अन्य सत्य घटना का भी मुझे स्मरण हो आया है।

अनीति के पाप ने चुनीलाल के पुत्र के प्राण ले लिये

अनेक वर्षों पूर्व बम्बई के 'जवेरी बाजार' में चुनीलाल एवं भाइचंदभाई नामक दो जौहरी थे। दोनों का व्यवसाय जोरों पर था।

एक दिन चुनीलाल ने भाइचंद से हीरे के चार नंग खरीदे। भाइचंद ने वे नंग एक ड़िबिया में डालकर उसे दे दिया। उसी ड़िबिया में पतले कागज के नीचे अन्य चार नंग डाले हुए थे, इस बात का भाइचंद को ध्यान नहीं रहा।

चुनीलाल ने घर जाकर वह डिबिया खोली और देखा तो स्वयं द्वारा खरीदे गये चार नंगों के नीचे अन्य चार नंग भी थे। वे नंग अत्यन्त मूल्यवान थे। यह देखकर चुनीलाल की नीति खराब हो गई। उसने वे चार नंग हजम कर डालने का निश्चय किया।

वास्तव में वे चार नंग एक मुसलमान जौहरी के थे। वह भाइचंद को ध्यान आया तो वह तुरन्त चुनीलाल के घर गया। भाइचंद समझता था कि चुनीलाल ईमानदार व्यापारी है, वह चार नंग तुरन्त लौटा देगा। परन्तु जब भाइचंद ने चुनीलाल से वे चार नंग मांग तो उसने अपने पास होने का स्पष्ट इनकार कर दिया।

चुनीलाल के मुँह से इनकार सुनकर भाइचंद तो स्तब्ध रह गया। वह समझ गया कि

चुनीलाल असत्य बोल रहा है, उसकी नीति भ्रष्ट हो गई है। परन्तु अब क्या हो सकता है?

उन चार नंगों के मूल मालिक मुसलमान भाई जब भाइचंद के पास नंग लेने आये तब उसने उन्हें सम्पूर्ण परिस्थिति से अवगत करा दिया और उन नंगों के पुन: प्राप्त होने की कोई सम्भावना नहीं होने से उनका मूल्य देने की बात उन्हें कह दी।

भाइचंद की नीतिमता पर उन मुसलमान भाइयों को पूर्ण विश्वास था, फिर भी उन्होंने कहा, ''भाइचंद भाई! आज तो उन नंगों के भाव अत्यन्त अधिक हैं, परन्तु सत्य बात यह है कि हमारे वे नंग शकुन में प्राप्त हुए थे, और शकुन की वस्तु हम भला कैसे बेच सकता है। हमें तो वे ही नंग पुन: प्राप्त होने चाहिये।''

भाइचंद भाई ने पुन: उनको प्राप्त करने का प्रयास करने की बात कह कर मुसलमान भाइयों को घर भेज दिया और वह पुन: चुनीलालके पास आया, परन्तु चुनीलाल ने किसी भी प्रकार से नंग अपने पास होना स्वीकार नहीं किया। इस पर तंग होकर भाइचंद चुनीलाल के घर से सीधा उन मुसलमान भाइयों के घर पहुँचा और उन्हें कहा, ''भाइयो! चुनीलाल किसी भी तरह मानने के लिये तैयार ही नहीं है। अब आप ही बताइये - मैं क्या करूं? आप उनको जो मूल्य निश्चित करो वह मैं देने के लिये प्रस्तुत हूँ।''

वे मुसलमान भाई मूल नंग ही पुन: प्राप्त करने की बात कह रहे थे। यह वार्तालाप पिछले कमरे में बैठे इन मुसलमान भाइयों के पिता अलीहुसेन सुन रहे थे। तसबी (माला) फिराते हुए खुदा का स्मरण करते-करते वे बाहर आये।

उन्होंने कहा, ''मैंने आप सबकी बात भीतर बैठे बैठे सुनी है। मुझे भाइचंद और उसकी नीति के प्रति पूरा भरोसा है। वे बोले, ''भाइचंद! तुम एक काम करो। चुनीलाल को यहाँ बुला लाओ। मैं तुम्हारा बिचौलिया बनूँगा और मैं जो फैसला कर दूँ वह तुम स्वीकार कर लेना।''

भाइचंद भाई को तो यह बात मान्य ही थी। वह दूसरे दिन चुनीलाल को साथ लेकर अलीहुसेन के पास आया।

सभी बैठे हुए थे। अलीहुसेन ने पूछा, ''चुनीलालजी! आप बहुत ईमानदार जौहरी है। आप सत्य कहिये कि भाइचंद ने जो ड़िबिया आपको दी थी उसमें आप द्वारा खरीदे गये चार नंगों के अतिरिक्त अन्य चार नंग थे अथवा नहीं?''

तब चुनीलाल ने तुरन्त उत्तर दिया, ''नहीं, नहीं, चाचा, मेरे खरीदे हुए नंगों के अतिरिक्त ड़िबिया में अन्य नंग थे ही नहीं। यह बात मैं अपने पुत्र की शपथ पूर्वक कह रहा हूँ। भाइचंद पूर्णत: असत्य कहता है।''

अलीहुसेन ने कहा, ''अररर! चुनीलाल! यह तुमने क्या किया? इतनी छोटी सी बात में तुमने अपने पुत्र की सौगन्ध खा ली? या अल्लाह! या खुदा!''

तत्पश्चात् अलीहुसेन ने निर्णय सुना दिया कि भाइचंद चारनंगों का असल मूल्य दे दे। भाइचंद ने अली चाचा की आज्ञा सिरोधार्य की।

इधर चार नंगों के लिये अपने चौबीस वर्ष के युवक पुत्र की झूठी शपथ खाने वाले चुनीलाल का उक्त पुत्र उसी रात्रि में रोग-ग्रस्त हुआ, जिसका अभी एक माह पूर्व ही विवाह हुआ था।

रात्रि में उसके ज्वर की तीव्रता में वृद्धि होती गई और प्रात: होते होते उस युवक पुत्र के प्राण परवेरु उड़ गये। चुनीलाल ने चार नंग प्राप्त करने की लालच में अपना इकलौता युवा पुत्र खो दिया।

उसे पुत्रकी मृत्यु की आघात असह्य हो गई। उसे अपने पाप की फल प्रत्यक्ष प्राप्त हो गया। दूसरे ही दिन प्रात: चुनीलाल वे चार नंग लेकर भाइचंद के समीप पहुँचा और कहने लगा, ''भाइचंद भाई! मैं आपका भयानक अपराधी हूँ। मुझे अपने पाप का दण्ड प्राप्त हो गया है। अब अधिक दण्ड भोगने की शक्ति मुझ में नहीं है। आप ये अपने चार नंग लीजिये और मुझ पर कृपा करें।''

कैसी करुण घटना!

अनीति से धन प्राप्त करने की पापी मनोवृत्ति का कैसा भयानक परिणाम!

अदालत (न्यायालय) के तीन मुकदमे

इस परिस्थिति का कारण कौन है? एक भयानक भ्रम, ''जितना अधिक धन होगा, उतने हम अधिक सुखी होंगे।''

बस, इस भयानक भ्रम के जाल में प्राय: समस्त समाज, प्राय: समस्त संसार के मनुष्य फंसे हुए हैं।

आज मनुष्य मात्र की पहचान धन के तराजू पर ही होती है, संसार में आज सब कुछ धन की तराजू पर ही तोला जाता है।

एक अदालत में तीन मुकदमे चल रहे थे और न्यायाधीश ने तुरन्त उनका निर्णय सुना दिया था।

प्रथम मुकदमा - वादी ने कहा, ''श्रीमान्! मेरी विवाहिता पत्नी को यह व्यक्ति भगा ले गया है।''

न्यायाधीश ने कहा, ''उस हानि के बदले तुम क्या चाहते हो?''

वादी ने उत्तर दिया, ''श्रीमान् ! पचास हजार रूपये।''

न्यायाधीश ने कहा, ''अच्छा, हानि के बदले उक्त धन-राशि स्वीकार की जाती है।

दूसरा मुकदमा

वादी - ''श्रीमान्! इस व्यक्ति ने बाजार के मध्य मुझे जूता लगा कर मेरी प्रतिष्ठा भंग की

है। मुझे आपकी हानि के बदले इससे कुछ धन-राशि दिलाई जाये।''

न्यायाधीश ने कहा, ''तुम कितनी धन-राशि चाहते हो?''

वादी - ''श्रीमान्! बीस हजार रूपये।''

न्यायाधीश ने कहा, ''अच्छा, पूरी धन-राशि स्वीकृत की जाती है।''

तीसरा मुकदमा

वादी ने कहा - ''श्रीमान्! मिल की मशीन की खराबी से मेरा हाथ कट गया है। मुझे इस हानि के बदले धन-राशि प्राप्त होनी चाहिये।

न्यायाधीश ने कहा, ''तुम क्या चाहते हो?''

वादी ने कहा, ''श्रीमान्! तीस हजार रूपये।''

न्यायाधीश ने कहा, ''अच्छा, उतनी धन-राशि स्वीकृत की जाती है।''

देखी यह दुनिया? जहाँ पत्नी, प्रतिष्ठा और हाथ सब कुछ धन की तराजू पर ही तोला जाता है।

धन होगा तो सुखी हो सकेंगे, सुरक्षित जीवन यापन कर सकेंगे, सुख पूर्ण जीवन जी सकेंगे .... ''सर्वे गुणा: कांचनमाश्रयन्ते'' 'समस्त गुण आकर धन का ही आश्रय लेते हैं।'

इस भयंकर भ्रम के जाल में से जब तक हम बाहर नहीं निकल सकते, तब तक हम नीति की वास्तविक महिमा नहीं समझ सकेंगे।

कुछ भी करो, परन्तु धन लाओ, फिर चाहे उस धन की प्राप्ति के लिये निकृष्टतम मार्ग ही क्यों ही अपनाना पड़े। इस प्रकार की कलुषित मान्यता के चक्कर में चढकर वर्तमान मानव बर्बाद हो रहा है।

'समस्त संसार जहन्नुम' में जाये, परन्तु मेरी तिजोरी भरनी ही चाहिये।' आज समाज में इस प्रकार का विचार व्याप्त होता जा रहा है।

धन की लालसा से कैसे क्रूर पाप

धन-प्राप्ति के लिये आज मनुष्य जो मार्ग अपना रहे हैं उनके विषय में सुन कर हमें कंपकंपी छूटती है ....

* देवनार के वाधिक गृह में नित्य छ: छ: हजार पशु काटे जाते हैं।

* अपनी लालसाओं को सन्तुष्ट करने के लिये भेडों के छोटे छोटे मेमनों के केवल 48 घंटों में चीर कर उनके रुंआटों से बूट आदि बनाये जाते हैं।

* कोमल पट्टे और पर्स बनाने के लिये साँपों को मारकर उनकी केंचुली उतार कर लाखों रूपये अर्जित करने के लिये प्रति वर्ष दो-ढ़ाई करोड़ साँपों को मौत के मुँह में डाल कर किसी का भी हृदय काँपता

तक नहीं है।

* कोमल वस्तु बनाने के लिये हजारों निर्दोष खरगोशों को गरम गरम पानी में डाल कर भून दिये जाते हैं।

* विषय वासनाओं के भूखे भेड़ियों की वासना की अग्नि बुझाने के लिये अनेक शैतान गाँवों की निर्दोष भोली किशोरियों को फुसला कर वेश्यालयों में ढकेलने में तनिक भी नहीं हिचकिचाते।

* अपने सामान के विक्रय से धन उपार्जन करने के लिये अनेक व्यापारी मेल-मिलावट करने में और विषैले पदार्थों का मिश्रण करने में भी नहीं हिचकिचाते।

* करोड़ों रूपयों की विदेशी मुद्राओं के लिये लाखों बन्दरों, मैंढ़कों, एवं मछलियों का सरकार द्वारा निर्यात किया जा रहा है।

* गर्भपात को वैध बनाकर आकर्षक विज्ञापनों के द्वारा सहस्त्रों निर्दोष पंचेन्द्रिय जीवों की हत्या की जा रही है।

यह सब क्यों हो रहा है? इसका केवल एक ही उत्तर है कि कहीं न कहीं धन उपार्जन करने की, अधिकाधिक सुखी होने की भयानक लालसा मानव मन पर नियन्त्रण किये बैठी है।

धन को ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य मान कर वर्तमान जगत अत्यन्त भयंकर पाप कर रहा है।

परन्तु करुण वृतान्त यह है कि अन्याय, अनीति, घोर हिंसा एवं अत्याचारों से उपार्जित धन मानव को कदापि सुखी नहीं करता।

धन की भयानक वासना जीव को काल का करुण ग्रास भी बना देती है।

धन की लालसा में करोड़पति की करुण मृत्यु

एक करोड़पति सेठ था। उसके चार पुत्र थे, परन्तु उनमें से किसी को भी सेठ के प्रति आदर अथवा प्रेम नहीं था, क्योंकि सेठ ने जीवन भर धन उपार्जित करने के अतिरिक्त अन्य कुछ भी किया नहीं था।

सेठ के हृदय में नित्य एक ही वासना रहती थीकि 'किस प्रकार मेरी तिजोरी ठसाठस भर जाये।'

साठ वर्ष के वयोवृद्ध सेठ प्राय: अनेक बार तिजोरी के पास जाकर देखते कि तिजोरी कहाँ तक भर गई है? वे स्वयं ही कमरे का द्वार बन्द करके नोटों के बंड़ल अच्छी तरह गिन लेते।

एक दिन सेठ भोजन करने के पश्चात् तिजोरी में रखे हुए रूपये गिनने के लिये कमरे में गये। अचानक कोई भीतर प्रविष्ट न हो जाये, अत: उन्होंने दरवाजे के स्वत: बन्द हो जाने वाला ताला लगवाया था। भीतर प्रविष्ट होते ही द्वार बन्द हो जाता था। भीतर से यदि सेठ स्वयं ही चाबी से

द्वार खोलते तो खुल जाता। बिना चाबी के द्वार नहीं खुलता था।

सेठ भीतर तो प्रविष्ट हो गये और नोटों के बण्डल गिनने लगे। इसमें अत्यन्त समय व्यतीत हो गया। सेठजी को जब प्यास लगी तो वे चाबी ढूँढ़ने लगे, क्योंकि वे ताला खोल कर बाहर पानी पीने के लिये जाना चाहते थे, परन्तु आज वे चाबी लाना ही भूल गये थे। अब क्या हो?

सेठ चाबी खोज खोज कर थक गये, परन्तु चाबी कहीं मिली नहीं। सेठ की प्यास में वृद्धि होती ही गई, परन्तु चाबी के बिना द्वार खुले कैसे? और द्वार खुले बिना पानी प्राप्त कहाँ से हो?

पानी! पानी! पानी! सेठ पानी के लिये हाय-हाय करने लगे, परन्तु उन्हें कोई उपाय नहीं दिखाई दिया, तब उन्होंने एक कागज पर लिखा - ''यदि इस समय कोई व्यक्ति मुझे एक गिलास पानी पिला दे तो मैं अपनी समस्त सम्पत्ति उसके चरणों में समर्पित कर देने के लिये तैयार हूँ।''

अन्त में पानी की प्यास के कारण तड़प-तड़प कर सेठ के प्राण-पखेरू उड़ गये।

कैसी करुण मृत्यु! ये मृत्यु कौन लाया? धन की ममता ही उनकी मृत्यु का कारण बनी।

इस प्रकार का धन का मोह किस काम का, जो स्वयं की ही मृत्यु का कारण बन जाये?

इस कारण ही ज्ञानी पुरुष धन-प्राप्ति के लिये 'नीति' नामक धर्म पर नियमित अमल करने की बात कहते हैं। जिन व्यक्ति का धन नीति से, न्याय से उपार्जित किया हुआ होगा, उस व्यक्ति की ऐसी करुण दशा कदापि नहीं होगी।

अनीति के धन का भोजन भी त्याज्य है

ज्ञानी पुरूषों का तो यहाँ तक कथन है कि जिस प्रकार अनीति का धन त्याज्य है, उसी प्रकार से अनीति से उपार्जित धन से प्राप्त भोजन भी त्याज्य ही है।

अनीति के धन से लाया हुआ भोजन मानव की बुद्धि भ्रष्ट करता है, बुद्धि को दूषित करता है। जो अनीति से उपार्जित धन का स्वामी होता है, उसके घर का भोजन यदि कोई दूसरा व्यक्ति कर ले तो भी उसकी बुद्धि बिगड़ जाती है। इस कारण ही आज भी अनेक धर्म-चुस्त मनुष्य किसीके भी घर का पानी तक नहीं पीते। इसका कारण यही होने का अनुमान लगता है।

अजैन महाभारत का प्रसंग

अजैन महाभारत में एक प्रसंग आता है। भीष्म पितामह शर-शैया पर लेटे हुए थे। बाणों के घावों से वे कराह रहे थे। पांडव और द्रौपदी उनकी सेवा-शुश्रुषा में लीन थे। वे सब जानते थे कि भीष्म पितामह कितने शक्तिशाली हैं एवं सहनशील हैं। अत: कराहते हुए भीष्म की चीखें सुन कर उन सबको आश्चर्य हो रहा था।

उस समय द्रौपदी ने साहस करके भीष्म को पूछा, ''पितामह! आप अत्यन्त बलवान एवं सहनशील हैं, फिर भी इतनी चीखें निकालने का कारण क्या है?''

पितामह ने उत्तर दिया, ''मेरी यह वेदना मैं सहन नहीं कर पा रहा हूँ उसका कारण तू ही है, क्योंकि सभा में वह पापी दु:शासन जब तेरे वस्त्र खींच रहा था तब उभय पक्षों के सम्माननीय वयोवृद्ध व्यक्ति के रूप में मैं तेरा उक्त वस्त्रा पहरण रोक सकता था, परन्तु मैं मौन रहा, कुछ नहीं बोला और तेरे वस्त्र खिंचते रहे। मैंने कैसा घोर पाप किया? इस कारण ही आज मैं इस वेदना का कष्ट भोग रहा हूँ।''

द्रौपदी ने विनयपूर्वक पूछा, ''पितामह ! मेरे हृदय में भी बहुत समय से इस बात का मंथन चल रहा था, परन्तु आज आप ही ने यह बात छेड़ दी तो आप यह भी बता दीजिये कि उस समय आप मूक क्यों बने रहे? क्या धृतराष्ट्र ने आपको मौन रहने के लिये विवश किया था?''

''द्रौपदी! यह बात नहीं है।'' एक वेदनापूर्ण नि:श्वास के साथ वे बोले, ''द्रौपदी ! उस दिन मैंने उस दुष्ट दुर्योधन का भोजन किया था, जिससे मेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गई थी और मैं मूक रहा।''

अनीति के धन से प्राप्त भोजन का परिणाम देख लिया न आपने? भीष्म जैसे महान् धर्मात्मा पुरुष की बुद्धि भी इसने भ्रष्ट कर दी।

अनीति किये बिना कैसे चले? इसका उत्तर -

आज अनेक मनुष्य तर्क करते हैं कि चोरी किये बिना जीवित ही कैसे रहा जा सकता है? आयकर आदि की चोरी के रूप में अनीति यदि न करें तो हमारे भूखों मरने का समय आ जायेगा।

इस प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व हम अनीति को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं।

1. सामान्य जनता के साथ किये जाते धोखे, झूठ, विश्वासघात आदि के रूप में अनीति।

2. प्रशासन के साथ की जाती आयकर की चोरी के रूप में अनीति।

अब इसमें सर्व प्रथम बात तोयही है कि जीवन की आवश्यकताओं को पूर्णत: सीमित कर दिया जाये तो अधिक धन उपार्जन करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी और यदि अधिक धन उपार्जन करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी तो अनीति नहीं करनी पड़ेगी।

इस प्रकार अनीति का मूल जीवन की अधिक आवश्यकताऐं हैं। कम से कम आवश्यकताओं से जो मनुष्य जीवन यापन कर सकता हो वह आज निश्चित रूप से नीतिपूर्वक जीवन जी सकता है।

परन्तु यदि सभी के साथ इस प्रकार की त्याग-वृत्ति संभव न हो तो सर्व प्रथम जनसाधारण के साथ जो धोखा, विश्वासघात, झूठ आदि के आचरण से अनीति की जाती है उसका तो सर्वथा त्याग करना चाहिये।

सचमुच वर्तमान सरकार ने प्रजा के लिये ऐसे नियम बना दिये हैं जिससे मनुष्य को अनेक प्रकार के पाप करने के लिये विवश होना पड़ा है।

फिर भी पाप तो पाप ही है, चोरी अर्थात् चोरी, फिर वह नियमानुसार हो अथवा नियम-

विरुद्ध हो। वह भी नहीं करनी चाहिये। फिर भी द्वितीय प्रकार की आयकर आदि की चोरी के रूप में अनीति करना यदि आप नहीं छोड़ सको तो प्रथम प्रकार की अनीति का तो परित्याग करो।

जन साधारण के साथ धोखा आदि करने के रूप में अनीति का परित्याग आपके धार्मिक जीवन में ऐसा पुण्य उत्पन्न करेगा जो कदाचित् द्वितीय प्रकार की अनीति का परित्याग करने का बल भी उत्पन्न कर देगा।

अनीति का परित्याग-सुधर्म का प्रथम सोपान

हम संसार में हैं, अत: धनोपार्जन का उद्यम तो करना ही पड़ता है। जीवन-निर्वाह के लिये कोई घर घर जाकर भिक्षा नहीं मांगी जा सकती। ऐसा करने पर तो श्रावक के रूप में आपकी और आप के धर्म की, जैन-शासन की निन्दा होगी। परन्तु धनोपार्जन का उद्यम ऐसा तो होना ही नहीं चाहिये कि जिसमें आत्म-कल्याण की दृष्टि ही समाप्त हो जाये।

गृहस्थ श्रावक का लक्ष्य तो सर्व-संग-परित्याग का ही होना चाहिये। जिस प्रकार स्वस्थ होने के लिये रोगी औषधि का सेवन करना है, परन्तु औषधि का सेवन करते रहना उसका लक्ष्य नहीं है। उसका लक्ष्य तो स्वस्थ होना है और स्वस्थ होने पर औषधि स्वत: ही बन्द हो जायेगी।

इस प्रकार श्रावक के हृदय में यदि यह हो कि 'मैं कब धन का पूर्णत: त्यागी (साधु) बनूँ' यह लक्ष्य हो तो कम से कम वह धनोपार्जन में अनीति का त्याग तो करेगा ही।

अनीति का परित्याग करो तब समझ लेना कि आप सुधर्म के प्रथम सोपान पर चढ़ गये।

अनीति का परित्याग करने के लिये शुभ भावनाऐं अपनाओ -

जब जब आपके हृदय में अनीति, अन्याय से धन प्राप्त करने के भाव उत्पन्न हों, तब तब निम्न भावनाऐं लायें :-

1. अन्याय से धन तो प्राप्त होगा, परन्तु उससे पाप-कर्म बँधते हैं और उनके उदयकाल में अन्याय से भी मुझे धन प्राप्त नहीं होगा।

2. 'न्याय-मार्ग से ही धन उपार्जन करूँगा' इस प्रकार के दृढनिश्चयी जीव को 'लाभान्तराय का क्षयोपशम' होता है और अल्प श्रम से अधिक सम्पत्ति की प्राप्ति होगी।

3. आप यदि न्याय-मार्ग पर अटल रहोगे तो अन्य अनेक व्यक्तियों को न्याय-मार्ग (नीति का मार्ग) अपनाने की अभिलाषा होगी और जिससे गाँव, समाज और लोक में न्यायी मनुष्यों की वृद्धि होगी और उसमें निमित्त होकर आप अपूर्व पुण्य उपार्जन करेंगे।

4. सम्पूर्ण धन के त्यागी-साधु होने के लिये सर्व प्रथम अनीति का तो त्याग करना ही पड़ता है। श्रावक के रूप में मेरा लक्ष्य साधु बनना है तो फिर मुझसे अनीति हो ही क्यों?

5. नीतिशास्त्र का कथन हैं कि, ''अनीति से उपार्जित धन दस वर्ष से अधिक समय तक नहीं ठहरता और यदि कदाचित् ठहर जाये तो वह नीति से उपार्जित धन को भी खींच ले जाता है

तथा उस गृहस्थ के संसार को वह किसी अदृश्य रीति से भस्म कर डालता है।'' अतः मुझे यदि सांसारिक दृष्टि से भी सुखी होना हो तो अनीति नहीं ही करनी चाहिये।

इस प्रकार अनेक प्रकार की भावनाओं को अपना कर अनीति का परित्याग करना चाहिये और नीति से पालन करना चाहिये।

अनीति का परित्याग करके नीतिवान बनने के लिये प्राचीन समय में हुए उत्तम नीतिवान् पुरुषों के दृष्टान्ते भी हृदयंगम करने चाहिये।

इस प्रकार का एक प्रेरक दृष्टान्त विमल मंत्री का है।

मंत्रीश्वर विमल की नीतिपरायणता

आबू के प्रसिद्ध पर्वत पर मंत्रीश्वर विमल की जिनालय का निर्माण कराने की तीव्र अभिलाषा थी। उसके लिये उन्होंने आबू पर्वत पर किसी उचित स्थान पर भूमि प्राप्त करने के प्रयत्न प्रारम्भ किये। यदि वे चाहते तो अपनी सत्ता का उपयोग करके वे इच्छित भूमि प्राप्त कर सकते थे, परन्तु ऐसा वे करना ही नहीं चाहते थे।

उन्होंने कुछ ब्राह्मणों को एकत्रित करके उनके स्वामित्व की भूमि की माँग की। अनेक विचार करके ब्राह्मणों ने कहा, ''मंत्रीश्वर! आपको जितनी भूमि की आवश्यकता है उतनी भूमि पर स्वर्ण मुद्राऐं बिछा दो तो हम भूमि दे देंगे।''
यह बात मंत्रीश्वर ने स्वीकार कर ली।

स्वर्ण-मुद्राओं की बोरियों आ गईं। उन्हें भूमि पर बिछाने का कार्य प्रारम्भ किया गया। उस समय मंत्रीश्वर के हृदय में तक विचार आया कि ''अरे! यह तो मैं अनीति कर रहा हूँ। स्वर्ण-मुद्राओं का आकार गोल है, अतः उन्हें धरती पर बिछाने पर बीच-बीच की कुछ भूमि खाली रह जायेगी। इतनी भूमि भी मैं अनीति से कैसे ले सकता हूँ?''

इस पर मंत्रीश्वर ने समस्त स्वर्ण-मुद्रा लौटा दी, विशेष तौर पर नवीन वर्गाकार स्वर्ण मुद्राऐं तैयार कराई गई और उन्हें बिछवा कर मंत्रीश्वर ने अवश्य के भूमि खरीद ली।

यदि एक स्वर्ण-मुद्रा के पच्चीस रूपये ही गिने जायें तो भी 45360000 (चार करोड़, तरपन लाख एवं साठ हजार) रुपये केवल भूमि का क्रय करने में व्यय किये गये।

नीतिपरायणता का यह कैसा उत्तम आदर्श है?

आदर्शों का मूल्य अत्यधिक

जीवन में आचरण की अपेक्षा भी आदर्श का मूल्य अधिक है। जिस व्यक्ति के आदर्श जितने उच्च होंगे, उसका जीवन उतना ही उच्च कोटि का हो जायेगा।

श्री जिन-शासन के गगन में वस्तुपाल, तेजपाल, पेथड़ मंत्री, कुमारपाल, सुलसा, मयणा,

सीता, अंजना, मदनरेखा आदि असंख्य सितारों के आदर्श देदीप्यमान है।

इन महान् आदर्श सितारों के प्रति जो पुण्यशाली पुरुष तनिक भी दृष्टि डालेंगे तो उनके जीवन पर उनके पुनीत प्रकाश का प्रतिबिम्ब पड़े बिना नहीं रहेगा।

हमें अत्यन्त सावधान हो जाना चाहिये। जीवन में समस्त क्षेत्रों में से अनीति, अन्याय, दम्भ, विश्वासघात एवं झूठ के पापों को तिलांजलि देनी चाहिये। अपनी अनीति का बचाव करने के लिये ऐसे पंगु उत्तर न खोजें कि, "दूसरे मनुष्य भी ऐसे ही करते हैं, सभी अनीति करते हैं, मैं अकेला थोड़े ही करता हूँ।" ये विचार तो जीवन में अपार पापों को प्रविष्ट करने का पापी द्वार बन जाता है।

जिस प्रकार समाज में अन्यायी, अनीतिवान, पापी मनुष्यों के उदाहरण हैं, उसी प्रकार से न्यायी, नीतिवान् एवं पुण्यशाली मनुष्यों के उदाहरण भी विद्यमान हैं। चाहे उस प्रकार के उदाहरण अल्प संख्या में हों, परन्तु जिन्हें आदर्श ग्रहण करना है उनके लिये तो एक ही उदाहरण पर्याप्त है।

आइये, हम धनोपार्जन में न्याय-सम्पन्नता को जोड़ कर अपना जीवन उज्ज्वल करें।

जीवन को गुणों से परिपूर्ण एवं धर्म-साधना से सुगन्धित बनाने में ही प्राप्त मानव जीवन की सार्थकता और सफलता है।

इतनी बातों को निश्चित निर्णय करें

अत: मनुष्य को अपने जीवन में निम्न लिखित कुछ बातों का निश्चित रूप से निर्णय कर लेना चाहिये

किसी भी प्रकार का व्यय करने से पूर्व अच्छी तरह सोचें।

अंधाधुंध क्रय एवं व्यय कदापि न करें।

स्वार्थ के कार्यों में सदा मितव्ययी रहें।

परमार्थ के कार्यों में यथा शक्ति उदार रहें।

निरर्थक व्यसनों का त्याग करें अथवा उस त्याग के लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहें।

फैशन के फंदे में न फँसे।

ऋणी कदापि न बनें क्योंकि ऋणी बनने का अर्थ है दु:खों को निमन्त्रण देना।

अल्प आय हो तो विशेष रूप से सोचना कि हमारी ये सब वस्तुएँ ऋणी होकर तो नहीं आ रही है?

सजावट की एवं निरर्थक विलासी वस्तुएँ घर में कदापि न लावें।

व्यसनों और फैशन की दासता का त्याग करो

फैशन के कारण भी आज अनेक मनुष्य धन का भारी दुरुपयोग करते रहते हैं। प्राचीन समय के अनेक व्यक्ति वस्त्रों आदि में अत्यन्त मितव्ययी होते थे। अवसर आने पर कारी वाले कपड़े भी वे पहनते थे। हाँ, स्वच्छता के विषय में वे पूर्ण सावधानी रखते थे। यद्यपि सभी लोगों को कारीवाले वस्त्र पहनने आवश्यक नहीं हैं, परन्तु फैशन के मोह में पड़कर व्यर्थ व्यय करना बर्बादी को निमंत्रण देने तुल्य है।

आज तो सामान्य आय वाले लोगों में भी अत्यन्त भड़कीले वस्त्रों की भरमार दृष्टिगोचर होती है। मिनी, मेक्सी, सलवार-दुपट्टा, बैल-बॉटम, जिन्स आदि के मोह के कारण धन का तो दुरुपयोग किया जाता है, परन्तु स्त्रियों एवं कुमारी युवतियाँ भड़कीले वस्त्र पहनकर अपने शील की बर्बादी को स्वयं ही निमन्त्रण देती हैं।

फैशन की भारी कठिनाई यह है कि वह कदापि स्थिर नहीं रहती। कल तक फिट पैन्ट-शर्ट पहनने की फैशन थी और आज ढ़ीले पैन्ट-शर्ट पहनने की फैशन चली, जिससे पुराने वस्त्र बेकार हो जाते हैं और नूतन वस्त्रों का जालिम व्यय सामने आता है।

बैन्जामिन फ्रैंकलिन ने एक सुन्दर बात कही है कि, ''मनुष्य की अपेक्षा फैशन अधिक वस्त्र निकाल देती है।'' हमारी आय का अधिकतर अंश यह फैशन खा जाती है। फैशन के पीछे किया जाने वाला व्यय सर्वथा अनुचित है।

फैशनेबल वस्त्रों से मन तो पुलकित होता होगा, परन्तु आत्मा तो उदास ही होती है। मन कदापि प्रसन्न नहीं होता क्योंकि वह तो चंचल है। प्रसन्न तो आत्मा को करना है। यदि आय के अनुसार ही व्यय किया जाये तो चित्त शान्त रहेगा और आत्मा प्रसन्न रहेगी।

मिथ्या प्रदर्शन करना, व्यसनों का दास होना, फैशन के चक्कर में पड़ना-ये सब दुःखी होने के मार्ग हैं। यदि सुखी होना हो तो जैसे हो वैसे ही दिखाई देने का प्रयास करो।

वैभव और विलास में आप अपना धन नष्ट मतकरो। उसे सुमार्ग में, मानव-जाति के उद्धार में लगने दो। क्राउन ने कहा है कि - ''युद्ध से तो मनुष्य नष्ट होते हैं परन्तु भोग-विलास से तो मानव-जाति नष्ट होती है, मानवता नष्ट होती है। युद्ध से तो कदाचित् मनुष्यों की देह नष्ट होती हैं परन्तु भोगातिरेक से तो मनुष्यों के तन और मन दोनों नष्ट होते हैं।

इस कारण ते ते पाँव पसारिये, जेती लंबी सौर

मनुष्य को अपने धन का किस प्रकार उपयोग करना चाहिये इस विषय में 'उचित व्यय' नामक इस गुण का इतना विस्तृत विवेचन करने का कारण यह है कि यदि मनुष्य आय से अधिक व्यय करता रहे तो उसका समस्त धन समाप्त हो जायेगा और धन समाप्त होने पर जीवन-निर्वाह कैसे किया जाये-यह एक भारी प्रश्न है, समस्या है।

फिर उससे मन निरन्तर आर्त्तध्यान में डूबता रहेगा। यदि मन में आर्तध्यान रहेगा तो वह व्यक्ति धर्म-ध्यान कैसे करेगा? और यदि धर्म ध्यान से च्युत हो जायें तो समस्त मानव-भव हार जायेंगे, दुर्गति का द्वार देखना पड़ेगा और सद्गति के द्वार बन्द हो जायेंगे।

इसलिये आय के अनुसार व्यय करना चाहिये। ऐसा करने से उचित बचत भी होगी और धर्म-मार्ग में भी उचित एवं यथाशक्ति व्यय किया जा सकेगा। ऐसा होने पर जीवन प्रसन्नतापूर्वक व्यतीत होगा और परलोक भी सुख-पूर्ण एवं धर्म-प्राप्त करने योग्य होगा तथा परम्परा से परमलोक (मोक्ष) की प्राप्ति भी सरल होगी।

इस कारण ते ते पाँव पसारिये, जेती लंबी सैर यह बड़े-बूढ़ो का हितोपदेश ध्यान में रखकर 'उचित व्यय' नामक गुण को जीवन में महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करें।

द्वितीय गुण
शिष्टाचार प्रशंसा

शिष्ट जनों ने त्यागा जिसको,
त्यागी बनूँ मैं उसका

शिष्टाचार - प्रशंसक: ।
(शिष्टाचारों की प्रशंसा)

शिष्ट अर्थात् सज्जन पुरुष।
शिष्ट अर्थात् अत्यन्त उत्तम मनुष्य।

शिष्ट अर्थात् अपने पूर्वज शिष्ट पुरुषों की परम्परा का आदर सत्कार करना।

ऐसे शिष्ट पुरुषों के आचारों की प्रशंसा करनी चाहिये। इससे जीवन में अनेक सद्गुणों का विकास होता है, जीवन गुणों से सुगन्ध मय उद्यान बनता है।

क्या चोर भी शिष्ट हो सकता है? पिता भी शिष्ट कब माने जाते हैं? शिष्ट कौन होते हैं? शिष्ट पुरुषों के विशिष्ट गुण कौन से होते हैं?

इस प्रकार के प्रश्नों के उचित उत्तर आपको इस गुण के पठन-पाठन एवं मनन से अवश्य प्राप्त होंगे।

मार्गानुसारी आत्मा का दूसरा गुण है - शिष्टाचारों की प्रशंसा।

मार्गानुसारी के गुणों में द्वितीय स्थान पर है - शिष्टाचार-प्रशंसा अर्थात् शिष्ट पुरूषों के आचरण की प्रशंसा करना।

अत: सर्व प्रथम प्रश्न यह उपस्थित होता है कि शिष्ट किसे कहा जाये? अत्यन्त सरल उत्तर है इसका - शिष्ट पुरुष अर्थात् अत्यन्त सज्ञन मनुष्य।

परन्तु आज तो सभी सज्ञन प्रतीत होते हैं। उल्टे बाहर से सज्ञन प्रतीत होने वाले व्यक्ति भीतर से प्रथम श्रेणी के दुर्जन होते हैं और कभी कभी बाहर से दुर्जन प्रतीत होने वाले मनुष्य सचमुच सज्ञन होते हैं।

वर्तमान समय में तो धन की शक्ति समाज में इतनी व्यापक होती जाती है कि समस्त नाप-तोल धन के माध्यम से ही होते आये हैं और इस कारण ही अधिक धनी व्यक्ति अधिक शिष्ट (सज्ञन) माना जाने लगा है। ऐसे बनावटी शिष्ट मनुष्यों के अच्छे अथवा बुरे आचारों की खुले आम प्रशंसा भी होती है और इस कारण ऐसे बनावटी शिष्ट आचारों का अनुकरण करने की फैशन चल पड़ी है।

अधिक गहराई से विचार करने पर ज्ञात होता है कि लोगों में से परलोक के प्रति श्रद्धा समाप्त होती जा रही है। इसलोक के अतिरिक्त एक दूसरा भी लोक है जहाँ जाकर यहाँ के भले-बुरे फल जीव को भोगने पड़ते हैं। इस सत्य को स्वीकार करने का अर्थ ही है परलोक-श्रद्धा। इस प्रकार की परलोक-श्रद्धा का आज अधिक अंश में लोप होता प्रतीत होता है।

जब परलोक की श्रद्धा समाप्त हो जाये तो फिर पापों का भय कैसे रह सकता है? ''मैं ऐसे पाप कर रहा हूँ तो परलोक में मेरा क्या होगा?'' यह विचार पापों से बचने का है। जब समाज में से परलोक के प्रति श्रद्धा विलीन होती जाती है, फिर पापों से भय कैसे लगे?

अर्थ प्रजा की खुमारी की नाशक है परलोक-श्रद्धा और पाप-भीरुता, इन दो गुणों का अभाव और इस कारण ही इस लोक की सुख-सुविधाओं के साधन जिससे खरीदे जा सकते हैं उस 'धन' को ही समाज ने जीवन का सर्वस्व मान लिया। इसलिये जो अधिक धनी वह समाज का अधिक सम्माननीय व्यक्ति, शिष्ट व्यक्ति सबसे बड़ा सज्ञन माना जाने की उल्टी गणना चल निकली। इस प्रकार के गणित के आधार पर ऐसे तथाकथित शिष्ट मनुष्यों की प्रशंसा होने लगी, उनके आसपास उनकी चमचागिरी करने वाले खुशामदखोर चक्कर लगाने लगे, जिससे वास्तविक शिष्ट पुरुषों की अवहेलना होने लगी।

फिर वास्तविक शिष्ट कौन होता है? शास्त्रकारों द्वारा बताई गई शिष्ट पुरुष की व्याख्या कुछ भिन्न बात ही बताती है।

सच्चे अर्थ में यदि शिष्ट बनना हो तो दूसरे शिष्ट पुरुषों की सेवा करनी पड़ती है। शिष्टों की सेवा किये बिना शिष्ट नहीं बना जा सकता।

जो विशिष्ट प्रकार के ज्ञानी होते हैं और जो चारित्र युक्त होते हैं अर्थात् जो विशिष्ट प्रकार के सदाचारों से युक्त होते हैं उन्हें शिष्ट कहा जाता है। ऐसे शिष्ट पुरुषों की विशिष्ट सेवा करके जो उनके कृपा-पात्र बने हैं, वे भी शिष्ट कहलाते हैं।

शिष्टों की सेवा के प्रताप से जो कृपा प्राप्त होती है उससे ज्ञानावरणीय एवं (चारित्र को दूषित करने वाले) मोहनीय कर्मों का नाश होता है। ऐसी आत्मा की बुद्धि भी सदा स्वच्छ रहती है, जिससे जीवन भी पवित्र बना रहता है।

इस प्रकार एक दीप से दूसरा दीप जलता है - एक शिष्ट पुरुष में से दूसरा शिष्ट और उससे तीसरा शिष्ट उत्पन्न होता जाता है। इस प्रकार शिष्ट पुरुषों की एक उत्तम परम्परा का सृजन होता है।

ऐसे शिष्ट पुरुषों के आचार-विचारों की अत्यन्त प्रशंसा करनी चाहिये और उनमें से जिस आचार-विचार को अपने जीवन में क्रियान्वित किया जा सके उसे क्रियान्वित भी अवश्य करना चाहिये।

प्रश्न - क्या समस्त शिष्टों के आचार-विचार उत्तम ही होते हैं, उनमें भूल नहीं हो सकती?

उत्तर - जिन्होंने ज्ञानवृद्ध एवं चारित्र सम्पन्न (साधु अथवा उच्च कोटि के संसारी) शिष्ट पुरुषों की सेवा करके शिष्टता प्राप्त की हो उन शिष्टों के ज्ञान एवं आचार उच्च कोटि के ही होंगे।

हाँ, जो केवल पुस्तकें पढ़कर पण्डित बने हों, वर्तमान समाचार-पत्र, पेम्फलैट, मेगजीन आदि ही जिनके लिये आदरणीय शास्त्र बने हुए और लोगों का मनोरंजन किस प्रकार अधिक हो यही जिनकी जीवन-दृष्टि हो - ऐसे मनुष्य बाह्य रूप से ज्ञानी हो अथवा चारित्रवान् हों उन्हें सही अर्थ में शिष्ट नहीं कहा जा सकता, उन्हें तो शिष्टाभाव कहा जा सकता है।

"शिष्टता प्राप्त करने का वास्तविक उपाय आप से अधिक ज्ञानी एवं अधिक चारित्रवान् सत्पुरुषों की सेवा है" - यह कहकर शास्त्रकार सत्पुरुषों की सेवा को कितना महत्व देते हैं? सेवा का कितना अपार गौरव है? वह भी इस प्रकार समझा देते हैं।

एक संस्कृत उक्ति का स्मरण हो आता है -

"सेवाधर्मः परमगहनो, योगिनामप्यगम्यः।।"

"सेवा का धर्म अत्यन्त गहन है। सेवा का उत्तम फल क्या है? उसकी महिमा कितनी अपार है? वह तो जानना योगी पुरुषों के लिये भी अत्यन्त कठिन है।"

शिष्ट पुरुषों के ये कतिपय लक्षण हैं :-

1. जो लोक अपवाद से ड़रने वाला हो अर्थात् लोगोंमें निन्दनीय आचार हो, उन पर आचरण नहीं करने वाला।

2. जो दीन-दुःखियों के उद्धार में रूचि रखता हो।

3. जिस व्यक्ति ने उसका उपकार किया हो उसे वह सदा स्मरण रखने वाला हो, कृतज्ञ हो।

4. जो उत्तम सदाचारों का पालक हो।

5. न्याय-नीति आदि सद्गुणों का धारक हो।

6. निन्दक न हो।

7. गुणवानों का प्रशंसक हो।

8. गुरुजनों के प्रति विनीत हो।

9. जो अहंकारी न हो।

10. दुःख के समय दीनता बताने वाला न हो।

11. हितकर, सीमित और प्रिय वाणी बोलने वाला हो।

12. कथनी और करनी समान हो।

13. आय के अनुसार व्यय करने वाला हो।

14. अत्यन्त नींद, विकथा एवं आलस का त्यागी हो।

15. शिष्ट पुरुषों के आचारों का सम्मान करने वाला हो।

16. उत्तम कार्यों का आदर करने वाला हो।

17. उचित बातों पर आचरण करने वाला हो।

18. प्राण जायें तो भी निन्दनीय कार्य कदापि नहीं करने वाला हो।

19. जो कार्य प्रारम्भकर ले उसमें सिद्धि प्राप्त करके ही रुकने वाला हो।

आर्यदेश की इस धरती पर अनेक प्रकार के शिष्ट पुरुष हो चुके हैं। उनकी प्रशंसा अवश्य करनी चाहिये।

अरे, साहुकारों की बात जाने दो। इस आर्य देश के चोरों में भी स्वामि-भक्ति जैसे शिष्ट गुणों का वास देखने में आता था।

चोर में भी स्वामि-भक्ति का शिष्ट गुण

प्राचीन समय की बात है। एक चोर चोरी करने निकला। उसने एक धनवान सेठ के घर में प्रवेश किया। मध्य रात्रि का समय था। उस समय पर्याप्त अंधकार था।

चोर दिन भर का भूखा था। उसने जिस खिड़की से घर में प्रवेश किया, वह खिड़की रसोई-घर की थी। अतः वह सीधा रसोईघर में ही प्रविष्ट हुआ। कुछ भोजन प्राप्त हो उस आशा से उसने वहाँ

इधर-उधर देखा तो एक डिब्बे में कुछ चूर्ण के समान वस्तु उसे प्राप्त हुई, जिसे चखने पर सात हुआ कि वह नमक है।

उसने सोचा, ''अब क्या हो? जिन घर का मैंने नमक खा लिया वहाँ अब चोरी कैसे की जा सकती है? यदि चोरी कर लूँ तो तो मैं नमकहशम कहलाऊँगा। आर्य देश की संस्कृति यह करने का निषेध करती है।''

और चोर चोरी किये बिना ही वहाँ से जाने लगा। उसने चोरी की नहीं थी, जिससे अब उसे तनिक भी भय नहीं था। अत:वह बेपर्वाही से चलने लगा और चलते समय उसका पाँव किसी बर्तन से टकराया। घर का स्वामी जग गया। उसने पुकार कर पूछा, ''अरे! कौन है?''

चोर बोला, ''मैं चोर हूँ।''

घर का स्वामी उसके समीप पहुँचा। प्रकाश जलाने पर उसने वहाँ एक व्यक्ति खड़ा हुआ देखा। स्वामी ने पूछा, ''भाई! क्या तू चोर है? चोर कदापि यह कहता होगा कि मैं चोर हूँ? अत: सत्य सत्य कह, तू कौन है?''

इस पर चोर ने उत्तर दिया, ''सेठजी! सचमुच, मैं चोर ही हूँ और आपके घर में चोरी करने के लिये ही आया था, परन्तु आपके रसोईघर में एक डिब्बे में से कुछ खाने की वस्तु लेते समय मेरे हाथ में नमक आ गया और मैंने वह नमक खा लिया। सब बताइये, मैं आपके घर में चोरी कैसे कर सकता हूँ? एक तो चोरी करने का पाप करना और फिर जिसके घर का नमक खाया उसके घर चोरी करना? नहीं सेठ, यह महा पाप मुझ से नहीं होगा।''

यह कहते ही चोर तुरन्त फुर्ती से बाहर चला गया। सेठजी चोर के अन्तर में निहित इस सद्गुण की मन ही मन प्रशंसा करते रहे। आर्य संस्कृति में चोर में भी शिष्टता के ऐसे गुण दृष्टिगोचर होते हैं ओर आज कल साहुकार माने जाने वाले अनेक धनवान व्यक्तियों में भारी दुर्जनता दृष्टिगोचर होती है। कितना शीर्षासन।

सन्तान के हित की चिन्ता

चाणक्य के पिता अत्यन्त धनवान थे। यह उनका प्रिय पुत्र था। चाणक्य के जन्म के पश्चात् की यह बात है। अष्टांग निमित्त का ज्ञाता एक ज्योतिषी चाणक्य के पिता के घर अतिथि होकर आया था। उन्होंने उसका अत्यन्त आतिथ्य किया। वह उत्तम उत्तम मिष्टान्नों का भोजन करके बैठा हुआ था। तब उसकी दृष्टि बालक चाणक्य पर पड़ी और उसके मुँह में लम्बा, सुन्दर दाँत देख कर वह बोला, ''वाह! यह तो अत्यन्त विस्मयकारी लक्षण है।''

चाणक्य के पिता ने ज्योतिषी की बात सुनकर सविस्तार बात कहने का निवेदन किया। ज्योतिषी ने कहा, ''आपके पुत्र के मुँह में यह लम्बा दाँत अत्यन्त शुभ लक्षण है। इसके आधार पर में कह सकता हूँ कि यह बड़ा होने पर अत्यन्त विशाल भूखण्ड़ का स्वामी बनेगा अर्थात राजा होगा।''

यह बात सुनकर उनके मुँह से तक निःश्वास निकला कि, ''राजेश्वरी ही नरकेश्वरी होता है। राज्य की कुशलता के लिये राजा को अनेक पाप करने पड़ते हैं। अत: राजा तो मरणोपरान्त प्राय: नरक में ही जाते हैं।तो क्या मेरा पुत्र मरणोपरान्त नरक में जायेगा? नहीं, मैं ऐसा तो कैसे होने दूँ?''

वे तुरन्त उठ खड़े हुए और कहीं से 'काणस' लाकर पुत्र चाणक्य के मुँह के उस लम्बे दाँत को उन्होंने घिस ड़ाला और ज्योतिषी को पूछा, ''अब कहिये ज्योतिषी! क्या अब मेरा पुत्र राजा होगा?''

ज्योतिषी ने कहा, ''नहीं, अब यह राजा तो नहीं होगा, परन्तु किसी महान् राजा का राज्य-गुरु अवश्य बनेगा।''

फिर तो पुत्र के हितैषी पिता के चहरे पर पुत्र के भावी नरक के निवारण होने का आनन्द दमक उठा।

पुत्र के इस लोक की ही नहीं, परन्तु उसके जन्म-जन्मान्तर के सुख-दु:ख का विचार करना और वास्तव में उसके हित की चिन्ता करना शिष्ट जनों के अतिरिक्त किसे सूझेगा?

सत्यनिष्ठा-शिष्ट जनों का उत्तम गुण

नीति, नियम एवं सत्य के आदर्शों की शिष्ट जन अपने जीवन में रक्षा करते। शत्रु भी यदि उन्हें पूछते तो शिष्ट जन उन्हें सत्य का ही मार्ग बताते थे। यदि उनका स्वयं का ही पुत्र अधर्म के मार्ग पर होता तो उसे भी शिष्ट जन धर्म-मार्ग की ही राह बताते थे।

महाभारत का एक प्रसंग है। कौरवों और पाण्ड़वों के मध्य युद्ध की रण-भेरी बज चुकी थी। दुर्योधन शस्त्रों से सुसज्जित होकर अपनी माता गांधारी का आशीर्वाद प्राप्त करने गया। दुर्योधन दुष्ट व्यक्ति माना जाता था। उसका युद्ध सचमुच अधर्म स्वरूप था। फिर भी वह अपनी माता का आशीर्वाद लेने का शिष्टाचार भूला नहीं।

प्राचीन काल का दुष्ट व्यक्ति भी माता के चरणों में नमस्कार करके आशीर्वाद लेने का शिष्टाचार करता और आज तथाकथित शिष्ट जन श्रेष्ठ कार्य के लिये प्रणाम करते समय भी माता के चरणों में नमस्कार करने में लज्जित होते हैं। बताइये, कौन दुष्ट है और कौन शिष्ट है?

दुर्योधन जब गांधारी के पास आशीर्वाद लेने गया तब उसने उसे क्या आशीर्वाद दिया था? उसने कहा था, ''वत्स! यतो धर्मस्ततो जय:।'' जहाँ धर्म है वहीं विजय है।'' अर्थात् जिस पक्ष में धर्म होता है उस पक्ष की ही विजय होती है।''

गांधारी को ज्ञात था कि मेरा पुत्र अधर्म के पक्ष में है और अधर्म के पक्षधर को ''तू विजयी हो'' ऐसा आशीर्वाद कैसे दिया जा सकता है? ऐसा करने पर हमें भी अधर्म का पक्षधर माना जायेगा। शिष्ट जन यह कैसे मान्य कर सकते हैं?

माता ने कहा, ''यतो धर्मस्ततो जय:।''

दुर्योधन माता के वचनों का मर्म समझ गया। उसने मन में सोचा, ''माता का कथन सर्वथा सत्य है। मैं भी समझता हूँ कि धर्म (सत्य) तो पाण्डवों के पक्ष में ही है। अत: मेरी विजय की आशा अत्यन्त कम है।''

अठारह दिनों तक महाभारत का वह युद्ध चलता रहा। युद्ध में जाने से पूर्व दुर्योधन माता गांधारी का आशीर्वाद लेने जाता। गांधारी दुर्योधन को नित्य यही आशीर्वाद देती - ''यतो धर्मस्ततो जय:''

अपने सगे पुत्र को भी परोक्ष रूप से ''तू अधर्म के पथ पर है'' यह सूचित करने वाली गांधारी के समान सत्य निष्ठा रूपी शिष्ट गुण इस विश्व में कितने मनुष्यों में होगा?

शिष्टाचार का कैसा अनुपम आदर्श है?

शिष्ट जनों को मान्य करना चाहिये और उनके उत्तम आचार-विचारों का हमें सम्मान करना चाहिये। उनके उन विचारों और आचारों की अत्यन्त प्रशंसा की जाना चाहिये। इस प्रकार शिष्ट जनों की प्रशंसा करने वाला व्यक्ति सही अर्थ में 'सद्गृहस्थ' हो सकता है।

प्रशंसा करने से दो लाभ होते हैं -

1. जिस व्यक्ति की आप प्रशंसा करेंगे वह वस्तु आपके भीतर प्रविष्ट होने लगेगी। यदि आप सद्गुणों एवं सद्गुणवानों की प्रशंसा करोगे तो धीरे धीरे आपके भीतर सद्गुण आने लगेंगे। आप भी सद्गुणी हो जायेंगे।

यदि आप दुष्ट व्यक्तियों एवं दुर्गुणों की प्रशंसा करोगे तो आपके भीतर भी शनै: शनै: दुर्गुण प्रविष्ट होते रहेंगे और आप भी एक बार दुष्ट, दुर्गुणी हो जायेंगे।

2. जिनकी आप प्रशंसा करेंगे, उन गुणों के प्रति अन्य मनुष्य सम्मुख होते जायेंगे।

धार्मिक क्षेत्र में आज जैन धर्म में 'तप' की अत्यन्त प्रशंसा होती है। तपस्वी मनुष्यों का सम्मान होता है, उनकी शोभा-यात्राऐं निकलती हैं। अत: तप करने वाले मनुष्यों की संख्या में दिन प्रति दिन वृद्धि होती प्रतीत होती है।

आजकल बम्बई में ब्रह्मचर्यव्रतधारी व्यक्तियों के सम्मान के कार्यक्रम आयोजित होने लगे हैं, जो अत्यन्त प्रशंसनीय हैं। इस प्रकार उनकी सार्वजनिक रूप से प्रशंसा होने से विश्व में ब्रह्मचर्य की महिमा फैलेगी और धीरे धीरे ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले जीवों की संख्या में भी वृद्धि होगी। यद्यपि इस व्रत का पालन करना अत्यन्त कठिन है, जिससे ब्रह्मचर्य-व्रतधारी व्यक्तियों की तुरन्त वृद्धि होती प्रतीत नहीं होगी, परन्तु दीर्घ काल में इस व्रत के आराधकों एवं पालकों की संख्या में अभिवृद्धि अवश्य होगी। इससे कम से कम ब्रह्मचर्य का आदर्श तो लोगों में प्रतिस्थापित होगा ही।

वर्तमान समय में जैन साधु भगवानों में जो उत्तम चारित्र के आराधक हैं उनकी उचित प्रमाण में प्रशंसा होती प्रतीत नहीं होती। इस कारण ही चारित्र का पालन करने के प्रति साधुओं में कहीं कहीं उपेक्षा होती दृष्टिगोचर होती है।

इसके विपरीत अधिकतर मनुष्य साधुओं की केवल विद्वत्ता तथा वक्तृत्व शक्ति के उपासक होने लगे हैं। अनेक संघ आग्रह रखने लगे हैं कि ''हमें तो प्रभावशाली व्याख्यानकार साधु चाहिये।'' परिणाम-स्वरूप साधुओं में भी चारित्र-पालन की अपेक्षा विद्वत्ता एवं व्याख्यान-शक्ति प्राप्त करने की मनोवृत्ति में वृद्धि होती प्रतीत होती है।

यदि साधुओं को उत्तम चारित्र के आराधक बनाना हो तो उत्तम चारित्र पालक मुनियों की अत्यन्त प्रशंसा करनी चाहिये। श्री संघों को भी यही आग्रह रखना चाहिये कि ''हमें तो चातुर्मास के लिये उत्तम चारित्र के पालक मुनि ही चाहिये, चाहे वे प्रखर व्याख्याता हों अथवा न भी हों तो चलेंगे।'' यदि इस प्रकार की विचारधारा बनेगी तो ही हमारे श्रमण-संघ में उत्तम चारित्रधारों की दिन-प्रतिदिन वृद्धि होती दृष्टिगोचर होगी।

आप विश्व में जिस वस्तु की प्रशंसा करेंगे, उसकी वृद्धि होती जायेगी।

वर्तमान समय में व्यावहारिक शिक्षा की प्रशंसा चारों ओर होती प्रतीत होती है, जिससे लोगों में उसके प्रति आकर्षण में वृद्धि होती जाती है, ग्रामीण मनुष्य, निर्धन व्यक्ति एवं स्त्रियें भी उस शिक्षा को प्राप्त करने के लिये पर्याप्त भोग देने लगे हैं और धन आदि का व्यय भी करने लगे हैं।

जो व्यक्ति अच्छी तरह अंग्रेजी बोलना जानते हों उनका आज बोलबाला है और इस कारण ही अंग्रेजी जैसी विदेशी भाषा के प्रति भारतवासियों का आकर्षण भी तीव्र होने लगा है।

संस्कृत भाषा समस्त भाषाओं की जननी मानी जाती है। इसे 'देव-वाणी' कहकर आर्य संस्कृति में इसका गुण-गान किया गया है, फिर भी उसके ज्ञाताओं एवं पण्ड़ितों की संख्या उत्तरोत्तर घटती ही जा रही है, क्योंकि वर्तमान समय के पाश्चात्य संस्कारों से प्रभावित लोग अंग्रेजी भाषा को जितना महत्व देते है, उससे सौवे भाग का महत्त्व भी वे संस्कृत भाषा को नहीं देते। इस बात का भयानक परिणाम यह होगा कि आज से पचास वर्षों के पश्चात् संस्कृत भाषा का प्रकाण्ड पण्डित भारत में भी खोजने पर नहीं मिलेगा।

इन सब बातों का सार यह है कि सच्चे सद्गुणों और उन सद्गुणों के धारक शिष्ट पुरुषों की पर्याप्त प्रमाण में प्रशंसा होनी चाहिये। यदि शिष्ट पुरुषों के आचार-विचारों की विश्व में अत्यन्त प्रशंसा होगी तो उसका सर्वत्र प्रसार-प्रचार होगा।

अब हमें निर्णय करना चाहिये कि संस्थाओं के उद्घाटन, पुस्तकों के विमोचन, विशिष्ट स्थानों के उद्घाटन आदि उत्तम प्रकार के ब्रह्मचारियों के कर-कमलों से सम्पन्न करायेंगे, बारह व्रतधारी श्रावकों से करायेंगे और उत्तम सदाचार आदि के धारक शिष्टपुरूषों को ही उन प्रसंगों पर

हम महत्त्व प्रदान करेंगे। धूर्त्त-रिश्वतखार प्रधानों तथा घोर अनीति एवं विश्वासघात करके करोड़पति बने धनी व्यक्तियों को हम तनिक भी महत्व नहीं देंगे।

तस्करी करके समाज के अग्रगण्य नायक बन बैठे व्यक्तियों तथा सफेदपोश समाज-ठग धूर्त्त व्यक्तियों को विशिष्ट प्रसंगों पर कदापि निमन्त्रित नहीं करेंगे, उन्हें कदापि महत्त्व नहीं देंगे।

यदि नीतिवान्, ईमानदार और सदाचारी मनुष्यों को राष्ट्रीय स्तर पर पुरस्कार, 'पद्माश्री' आदि प्रदान किये जाये तो लोगों में नीति-परायणता, ईमानदारी एवं सदाचार आदि का अत्यन्त प्रचार होगा।

यदि इस प्रकार के शिष्टाचारों को हमारी सरकार प्रोत्साहन दे तो तो फिर कहना ही क्या? सरकारी (राजकीय) प्रोत्साहन से समाज में शिष्टाचारों का प्रसार एवं प्रचार तीव्र गति से हो सकता है।

आर्य संस्कृति में दो नियम थे - 1. दुष्टस्य दण्ड और 2. सुजनस्य सेवा।

दुष्ट मनुष्यों को उनके कुकर्मों का कठोर दण्ड देना चाहिये, जिससे समाज में कुकर्म करने से लोग भयभीत होंगे और कुकर्म घटते जायेंगे। राजा की यह प्रथम नीति थी।

सज्जनों की उनके उत्तम कार्यों के लिये अत्यन्त प्रशंसा करनी चाहिये। ऐसा करने से समाज में उत्तम कार्यों के प्रति लोगों के प्रेम में वृद्धि होगी और जिससे उत्तम कार्यों की वृद्धि होती जायेगी। राजा की यह दूसरी नीति थी।

आजकल सरकार द्वारा दुष्टों को दण्ड देने और अपराधियों को अपमानित करने की प्रथम नीति को तो क्रियान्वित किया जाता है, परन्तु 'सज्जनों के सम्मान' की द्वितीय नीति का क्रियान्वयन होता प्रतीत नहीं होता। यदि शीलवान, सदाचारी, ईमानदार आदि मनुष्यों का सम्मान हो तो इसकी भी लोगों में अभिवृद्धि होगी।

शिष्टाचार-प्रशंसा की विपरीतता है, आजकल शिष्ट पुरुषों के आचारों की प्रशंसा के बदले कुछ अशिष्ट मनुष्यों के आचारों की अत्यन्त प्रशंसा होने लगी है।

फिर वे अशिष्ट धनवान हों तो,

अथवा वे अशिष्ट सत्ताधारी हों तो,

अथवा वे अशिष्ट परदेशी हों तो

ऐसे किसी न किसी कारणवश उन अशिष्ट मनुष्यों के आचार-विचार की, उनके रहन-सहन आदि की अत्यन्त प्रशंसा होती प्रतीत होती है।

भारतीय संस्कृति की निन्दा करने और पाश्चात्य संस्कृति की प्रशंसा करने का एक 'मीनिया' बन गया है, अनेक धनवानों, शिक्षितों एवं तथाकथित बुद्धिजीवियों की एक फैशन हो गई

है यह कहने की - ''इण्डिया में कुछ नहीं है, इण्डिया में क्या है? लोग कितने गंदे हैं? कितने बेईमान और भ्रष्ट हैं? मार्ग एवं मकान कितने सँकरे एवं अस्वच्छ हैं? विदेशों को देखो, अमेरिका कितना आगे बढ़ गया है? रूस कितनी प्रगति कर रहा है? वैज्ञानिक लोग चंद्रमा में पहुँच गये, फिर भी अबी तक भारत नहीं सुधरा।''

गहरी, ज्ञान-विहीन फैंक मारने की अनेक मनुष्यों को आदत पड़ गई है। इस प्रकार अशिष्ट मनुष्यों के आचारों की प्रशंसा करके हमारे ही देश के अनेक मूर्ख लोग उनका प्रचार कर रहे हैं, जो अत्यन्त दुःखद है।

''आपका स्थान हमारे चरणों में ...''

स्वामी विवेकानन्द के समान सत्व वाले मनुष्य इस देश में अत्यन्त अल्प हैं।

विदेशों में धर्म प्रचारार्थ घूम घूम कर स्थान-स्थान पर भाषण देते स्वामी विवेकानन्द ने एक बार अपने भाषण में अंग्रेजों की जीवन पद्धति की कठोर समीक्षा की थी और भारतीय संस्कृति का अत्यन्त गुण-गान किया था।

यह सुनकर कुछ अंग्रेजों को बुरा लगा। अत: उसी सभा में खड़ी होकर एक अंग्रेज युवती ने स्वामी विवेकानन्द को पूछा, ''स्वामीजी! आप हमारी पाश्चात्य संस्कृति की अत्यन्त आलोचना करते हैं, तो फिर क्या मैं आपको पूछ सकती हूँ कि आपने अपनी वेष-भूषा तो भारतीय रखी है, परन्तु आपने हमारी पाश्चात्य पद्धति से बने बूट पाँवों में क्यों पहने हैं? कहना कुछ और करना कुछ यह आप जैसों के लिये शोभनीय नहीं है।''

स्वामीजी का उत्तर सुनने के लिये सब लोग अधीर हो उठे। उस युवती का प्रश्न सचमुच उलझन में डाल देने वाला था। स्वामी विवेकानन्द ने अपनी स्वस्थता को तनिक भी खोये बिना कहा, ''हमारे भारत देश में आप पश्चिम के लोगों का स्थान कहाँ है - यह बताने के लिये ही मैंने आपके देश में बने बूट पाँवों में पहन रखे हैं।''

यह उत्तर सुनकर अंग्रेज तो बिचारे ठण्डे ही पड़ गये।

भारतीयों के प्रति विवेकानन्द का सम्मान

इस प्रकार का उत्तर देने के पीछे स्वामी विवेकानन्द के मन में अंग्रेजों के प्रति कोई द्वेष-भाव नहीं था, परन्तु शिष्टाचार सम्पन्न भारत के प्रति, उसकी संस्कृति के प्रति अहोभाव था।

जब स्वामी विवेकानन्द भारत लौटे तब किसी पत्रकार को आशा थी कि अब जनस्वामीजी विदेशों में अनेक स्थानों का परिभ्रमण करके लौटे हैं तब वे वहाँ के अंग्रेजों के जीवन-व्यवहार आदि को देख कर निश्चित रूप से प्रसन्न हुए होंगे और भारतवासियों की अशिष्टता, पिछड़ेपन आदि के प्रति इन्हें घृणा उत्पन्न हुई होगी। इस आशा से उसने स्वामीजी को पूछा, ''विदेशों

में भ्रमण करने के पश्चात् अब आपको भारतवासी कैसे प्रतीत होते हैं?''

स्वामीजी ने उत्तर दिया, ''विदेशों में जाने से पूर्व भारतवासी मुझे प्रेम करने योग्य प्रतीत होते थे, परन्तु अब तो मुझे वे पूजनीय प्रतीत होते हैं।''

शिष्टतापूर्ण इस देश के प्रति विवेकानन्द के अन्तर में कितना अद्भुत आदर था।

पाश्चात्य लोगों की अशिष्टतापूर्ण कथा

पाश्चात्य लोगों में कुछ स्थानों पर कैसी घोर अशिष्टता व्याप्त है, जिसकी एक छोटी सी घटना कुछ समय पूर्व एक गुजराती साप्ताहिक में पढ़ी थी, जिसे पढ़कर शिष्ट जनों के अन्तर में व्यथा उत्पन्न हुए बिना नहीं रहेगी।

लंदन में एक पुस्तक प्रकाशित हुई है, जिसकी लेखिका हैं ड़ेबोराह मोगाचे। पुस्तक का विषय है - वीर्यदान के द्वारा सन्तान उत्पन्न करने के प्रयोग करने से कितनी गड़बडी उत्पन्न होती है उस पर आधारित एक उपन्यास।

उपन्यास का विषय लेखिका ने अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर लिया है।

डेबोराह के दो बच्चे थे। उसकी बड़ी बहन का विवाह होने के पश्चात् उसके कोई सन्तान ही उत्पन्न नहीं हुई। अनेक उपचार कराने पर भी उसके सन्तान नहीं हुई।

तत्पश्चात् कृत्रिम वीर्यदान के द्वारा उस बहन के सन्तान हो उसके लिये प्रयास किये गये। अनेक प्रकार के उपचारों एवं वीर्यदान के प्रयोगों से बड़ी बहन परेशान हो गई, क्योंकि उससे भी सन्तान नहीं हुई।

अन्त में उसने अपनी छोटी बहन के समक्ष एक प्रस्ताव रखा, ''बहन! मेरे सुख के लिये तू अपना पति कुछ समय के लिये मुझे दे दे।''

शिष्ट-जन कान से भी नहीं सुन सकें ऐसे उस प्रस्ताव को उस छोटी बहन ने स्वीकार भी कर लिया। उसने अपना पति अपनी बड़ी बहन को कुछ समय के लिये ऊछीना दे दिया। विशेषता तो यह रही कि उस बड़ी बहन के पति ने भी पुत्र की लालसा में ऐसे अत्यन्त अशिष्ट व्यवहार की सम्मति भी दे दी।

बड़ी बहन का शारीरिक सम्बन्ध डेबोराह के पति के साथ होने लगा, जिससे वह गर्भवती भी हुई और उसके बालक भी हो गया, परन्तु तत्पश्चात् भारी कठिनाई उत्पन्न हो गई कि जिस कारण डेबोराह के पति के साथ उसकी बड़ी बहन ने सम्बन्ध स्थापित किया था, वह कारण पूर्ण होने के पश्चात् भी उन सम्बन्धों का अन्त नहीं हुआ और इस प्रकार डेबोराह की दशा तो 'भवन लेते गुजरात खोने' जैसी हो गई।

यह सम्पूर्ण सत्यकथा स्वयं डेबोराह ने ''टू हैव एण्ड टू होल्ड'' शीर्षक अपने उपन्यास में

वर्णित की है।

अशिष्टता से परिपूर्ण पाश्चात्य लोगों की यह कैसी घोर अशिष्ट कथा है? यह कथा पढ़कर किस शिष्ट व्यक्ति का हृदय व्यथित नहीं हुआ होगा।

दु:ख की बात तो यह है कि ऐसे अशिष्ट देशों एवं ऐसे अशिष्ट मनुष्यों की प्रशंसा करते करते आज अनेक भारतवासी थकते तक नहीं है।

शिष्टाचारों का आदर-सत्कार करो

यदि अशिष्ट विचारों एवं अशिष्ट आचारों को निकालना हो तो शिष्टाचारों की अत्यन्त प्रशंसा करनी चाहिये, शिष्ट जनों द्वारा आचरित संस्कृति का सर्वत्र आदर एवं सम्मान होना चाहिये। इस संस्कृति का प्रेम घर-घर में और घट-घट में व्याप्त करने के लिये हमें समस्त प्रयत्न करने ही होंगे, जिसके लिये हमें पहल करनी होगी क्योंकि Charity begins at home.

भारत के प्रधान मंत्री से लगाकर साधारण प्राथमिक शाला के चपरासी तक जब आज संस्कृति के मूल्यों का तिरस्कार कर रहे हैं, पाश्चात्य लोगों की प्रशंसा करके शिष्ट संस्कृति की अवहेलना कर रहे हैं और इलेक्ट्रोनिक क्षेत्र में भारत को अग्रसर करके इक्कीसवी शताब्दी में शीघ्र पहुँचाने की उतावल कर रहे हैं, फिर भले यन्त्रवाद के खप्पर में भारतवर्ष की प्रजा के सुख और शान्ति की बलि दे दी जायें, आर्थिक तौर पर उसका विनाश हो जाये, यन्त्रवाद के व्यापक प्रचार से जनता की रोजी-रोटी छिन जाये, ऐसे विकट समय में हमें अपने घर से अपनी संस्कृति का सम्मान करना प्रारम्भ करना होगा और जहाँ जहाँ उत्तम शिष्टाचार दृष्टिगोचर हो वहाँ वहाँ उनकी पर्याप्त प्रशंसा करके उनका स्वागत करना चाहिये, सम्मान करना चाहिये। ऐसा करने से वे शिष्टाचार जन जीवन में व्यापक होते जायेंगे।

इसके उपरान्त जो कोई अशिष्ट आचार जहाँ कहीं भी दृष्टिगोचर हों वहाँ उनका उचित प्रकार से प्रतिकार करना चाहिये, क्योंकि शिष्टाचार प्रशंसा का दूसरा छोर है अशिष्ट आचारों की अवहेलना। एक ओर तो शिष्टाचारों की प्रशंसा की जाये, परन्तु दूसरी ओर अशिष्ट आचारों का तिरस्कार, उनकी अवहेलना नहीं की जाये तो उसका कोई विशेष अर्थ ही नहीं रहता।

हिटलर एवं औरंगजेब जैसे दुष्ट शासकों ने भी अमुक शिष्टाचारों का उचित सम्मान किया है, जबकि वर्तमान बुद्धिजीवी एवं पाश्चात्य प्रेमी कुछ भारतीय व्यक्ति उन्हीं शिष्टाचारों की अवहेलना करते हैं तब हृदय में अत्यन्त खेद होता है।

नारियों को नौकरी छुड़वाने वाला हिटलर

हिटलर ने शासन सम्हालते ही आदेश निकाला था कि समस्त नारियों को नौकरी करना बंद करके गृह-कार्य में, पति की सेवा में और बालकों के पालन-पोषण में लग जाना चाहिये, क्योंकि वह मानता था कि नौकरी करने वाला नारी के लिये सतीत्व (शील) की सुरक्षा का प्रश्न अत्यन्त

जटिल हो जाता है और जिस देश की नारी शीलवती नहीं होंगी उस देश की प्रजा सदाचारी एवं सत्त्वयुक्त कैसें हो सकेगी? इस कारण ही नारी को अपने शील की रक्षार्थ नौकरी आदि से होने वाले लाभों को तिलांजलि देनी चाहिये।

हिटलर के समान शासक भी जब नारी के लिये घर, पति तथा बालकों की देख-भाल को ही उचित मानता हो, तब भारत के अनेक शिक्षित डिग्रीधारी लोग नारी को घर के बंधनमुक्त वातावरण से मुक्त करके बाहर के क्षेत्र में आगे लाने की बातें कर रहे हैं और इस प्रकार भारतीय नारियों के शील (सतीत्त्व) के प्रशन को जटिल बना रहे हैं, जो कितना दु:खद माना जाता है।

औरंगजेब का शिष्टाचार के प्रति प्रेम

इसी प्रकार का एक अन्य प्रसंग है जो औरंगजेब की नारी-सम्मान की भावना का सूचक है। एक बार उसकी पुत्री जेनुन्निसा ढ़ाका की अत्यन्त बारीक मलमल की साड़ी पहनकर उसके पास आई, जिसमें से उसके अंग-प्रत्यंग स्पष्ट दिखाई देते थे। यह देखकर औरंगजेब क्रोधित हो गया और उसने आज्ञा दी, ''इस निर्लज्ञ नारी को यहाँ से ले जाओ। यह मेरी पुत्री हो ही नहीं सकती और इसे अभी इसी समय जला दो।''

निस्सन्देह, औरंगजेब द्वारा उसे जला ड़ालने का दिया गया आदेश तनिक भी उचित नहीं था, परन्तु अपनी पुत्री भी अशिष्ट उद्भट वेशभूषा धारण करे, वह उसे तनिक भी मान्य नहीं था। इस दृष्टि से औरंगजेब की शिष्टाचार-प्रियता की उस अंश में प्रशंसा की ज्ञानी चाहिये।

अकाल-पीड़ित मनुष्यों का भी उत्तम शिष्ट गुण

आठ आठ वर्षों से जहाँ पानी की एक बूंद भी नहीं गिरी थी, राजस्थान के जैसलमेर जैसे शुष्कतम प्रदेश में लोगों के खाने के लिये अन्न का सर्वथा अभाव था, आठ आठ भयंकर अकालों ने लोगों की कमर तोड़ दी थी, परन्तु उन्होंने साहस नहीं खोया। 'जैसा हमारा कर्म' कहकर वे भूख की दारुण दु:ख सहन कर रहे थे।

दीन दु:खियों के आधार तुल्य दो उदार पुरुष एक दिन उस प्रदेश में आये। उनके साथ एक ट्रक था खचाखच बाजरी से भरा हुआ था।

उन दोनों पुरुषों ने लोगों को बुला कर कहा, ''हमें अभी अनेक स्थानों पर जाना है। यह बाजरी हम यहाँ ड़ाल देते हैं। इस ढ़ेर में से आप सब अपनी अपनी आवश्यकतानुसार बाजरी ले जाना। हम एक सप्ताह के पश्चात् पुन: यहाँ आयेंगे तब आपसे अन्य बातें करेंगे।''

एक सप्ताह व्यतीत होने पर वे उदार पुरुष पुन: वहाँ आये तब उन्होंने वहाँ जो आश्चर्य देखा जिसे घड़ी भर के लिये उनका मन मानने के लिये तैयार नहीं हुआ। बाजरी का ढ़ेर ज्यों का त्यों पड़ा था। उनके विस्मय का पार नहीं रहा। उन दोनों ने लोगों को इसका कारण पूछा तब लोगों ने बताया, ''हम निर्धन अवश्य हैं, हमें अन्न की भीषण आवश्यकता भी है, परन्तु हम नि:शुल्क अन्न

लेना नहीं चाहते। आप हमें काम दो, काम का पारिश्रमिक दो। हम श्रम करेंगे और उसके बदले में आप हमें, बाजरी देना। पूर्णत: नि:शुल्क बाजरी तो हम कदापि नहीं लेंगे।''

वे दोनों उदार पुरूष धन से निर्धन परन्तु मन से महान् धनी उन लोगों का साहस और उनकी अद्भुत दृढ़ता देखकर सचमुच नत मस्तक हो गये।

नि:शुल्क लेने की वृत्ति आज जब मानव-समाज में अत्यन्त विस्तार पा रही है तब, आठ आठ अकालों में खाद्यान्न के अभाव में तड़पते होने पर भी नि:शुल्क अन्न नहीं लेने की इच्छा शक्ति से युक्त इन शिष्ट-जनों के चरणों में भला कौन नत मस्तक नहीं होगा?

नि:शुल्क प्राप्त अन्न बुद्धि भ्रष्ट करता है। मुफ्त में प्राप्त धन एवं धान्य मन को विकृत करता है, इससे हमारा साहस नष्ट हो जाता है, हम अपना मनोबल एवं स्वाभिमान खो देते हैं।

शिष्ट पुरुषों की ऐसी उत्तम विचारधारा को विश्व में व्यापक बनाने की अत्यन्त आवश्यकता है और इसका सर्वोत्तम उपाय है - जहाँ जहाँ जिस की भी शिष्ट-जनों के योग्य प्रवृत्ति दृष्टिगोचर हो, वहाँ वहाँ उनकी अत्यन्त प्रशंसा करना।

शिष्टाचार की प्रशंसा करना मार्गानुसारिता का द्वितीय गुण है।

तृतीय गुण

विवाह भी किसके साथ?

कुल-शील-सः सामैर्द्धं, कृतोद्वाहोऽन्यगोत्रजैः।।

उचित विवाह

सर्वाधिक श्रेष्ठ तो है - ब्रह्मचर्य का पालन और जो साधुगण एवं कुछ गृहस्थ इस प्रकार का पालन यथार्थ रूप से करते हैं, निर्दम्भ भाव से करते हैं, वे सभी हमारे लिये वन्दनीय हैं।

ब्रह्मचर्य की इस प्रकार की ज्वलन्त साधना जो व्यक्ति आजीवन नहीं कर सकते, उन संसारी मनुष्यों के लिये 'विवाह करना' अनिवार्य हो जाता है।

ऐसे व्यक्ति विवाह भी क्यों करते हैं? विवाह भोग के लिये है अथवा ब्रह्मचर्य के योग की साधना के अभ्यास के लिये है? विवाह करना तो कहाँ करना चाहिये? कैसे पात्र के साथ करना चाहिये। पात्र का चुनाव करने में अत्यन्त चीवट और धर्म को प्रधानता देना क्यों आवश्यक है? इस प्रकार की शंकाओं का सतर्क एवं सुतर्क समाधान आपको इस गुण के पठन-मनन से प्राप्त होगा।

मार्गानुसारी आत्मा को तृतीय गुण है - उचित विवाह।

मार्गानुसारी का तृतीय गुण है - उचित विवाह। उचित विवाह से तात्पर्य है योग्य विवाह।

विवाह की बात में काम-पुरुषार्थ की बात आती ही है। आर्यावर्त की संस्कृति धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों पर निर्भर है। इनमें मोक्ष प्रधान पुरुषार्थ है और धर्म प्रबल सहायक पुरुषार्थ है।

अर्थ एवं काम को भी पुरुषार्थ कहने का कारण यह है कि ये दोनों धर्म से सुनियन्त्रित होते हैं।

ब्रह्मचर्य का पालन सर्वोत्तम

सर्वोत्तम तो वे ही हैं जो जीवन भर उत्तम प्रकार के ब्रह्मचर्य का पालन करके श्रेष्ठ धर्म-पुरुषार्थ की आराधना करते हैं।

इस प्रकार की आत्मा हैं - जैन मुनिगण एवं साध्वीजी महाराज, जो संसार में अपार वैभव एवं ऋद्धि-सिद्धि होने पर भी उनके प्रति ज्वलन्तविरक्त होकर जीवन भर ब्रह्मचर्य की श्रेष्ठ साधना करते हैं और उत्तम संयम का पालन करते हैं। सचमुच, वे अत्यन्त धन्य हैं।

विवाह-सुख प्राप्त करने की अत्यन्त अनुकूलता होने पर भी जो उसे दु:ख स्वरूप मान कर प्रथम से ही उसका त्याग कर देते हैं ऐसे मुनिगण तो धन्य हैं ही, परन्तु वह लोचनदास भी धन्य है कि जो गया तो था विवाह-सुख प्राप्त करने के लिये, परन्तु एक सामान्य घटना ने उसे आजीवन ब्रह्मचारी बना दिया।

लोचनदास और उसकी पत्नी का शौर्य

सामान्य स्थिति का लोचनदास अत्यन्त निर्धन था, जिससे वह अत्यन्त ठाठ से विवाहोत्सव मनाने के लिये असमर्थ था। वह सादगी पूर्वक विवाह करने के लिये अपनी मंगेतर के गाँव आ रहा था।

गाँव के बाहर एक कुँआ था जहाँ अनेक पनिहारिनें पानी भर रही थीं। लोचनदास वहाँ आकर रुका और उसने एक पनिहारिन को पूछा, ''बहन! अमुक भाई का घर कहाँ है?''

उस सुन्दरी लड़की ने उंगली के संकेत से उस भाई का घर बता दिया। लोचनदास उस भाई के घर पर पहुँच गया।

निश्चित मुहूर्त में लोचनदास का उसकी मेंगेतर के साथ विवाह हो गया। रात्रि होने पर शयनकक्ष में जब पति-पत्नी का चहरा देखा तो वह दिग्मूढ़ बन गया, ''अरे! यह तो वही लड़की है जिसे मैंने आज प्रात: अपने भावी ससुर का घर पूछा था। इस लड़की को तो मैंने 'बहन' कह कर सम्बोधित की थी।''

वह लड़की (उसकी पत्नी) भी स्तब्ध होकर लोचनदास की ओर देखने लगी। उसे भी प्रात:काल की समस्त घटना का स्मरण हो आया।

उस नवोढ़ा ने धीरे से लोचनदास को कहा, ''आज प्रात: आपने मेरा घर पूछते समय मुझे 'बहन' कह कर सम्बोध किया था न? तो आपकी बहन बनी हुई मुझसे आपके साथ 'पत्नी' के रूप में व्यवहार कैसे हो सकता है? कोई बात नहीं, इस जीवन में मैं आपकी बहन ही बनी रहूँगी। आप किसी अन्य कन्या के साथ विवाह करके अपना जीवन सुखी करें, परन्तु मेरा आपसे निवेदन है कि आप मुझे अपने चरणों की सेवा में रखें। मुझे तो सेवा की भूख है, विषय-वासना की नहीं। मेरी यह प्रार्थना आप स्वीकार करें।''

अपने सुख की अद्‌भुत बलि देकर पति के सुख की कामना करनेवाली इस नारी के प्रति लोचनदास का हृदय नत हो गया, उसके नेत्रों में अश्रु-प्रवाह छलछला उठा।

लोचनदास ने कहा, ''तू मेरे लिये जो बलिदान देने के लिये तत्पर हुई है, उसे मैं व्यर्थ नहीं जाने दूँगा। अब यदि मैं तुझे छोड़ कर किसी अन्य कन्या के साथ विवाह करता हूँ तो कलंकित हो जाऊंगा। अब हम दोनों साथ ही रहेंगे, परन्तु पति-पत्नी के रूप में नहीं, भाई और बहन के रूप में। बोल, फिर तुझे कोई आपत्ति है?''

लोचनदास के इस शौर्य पर उसकी पत्नी भी न्यौछावर हो गई। तत्पश्चात् उन दोनों ने आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन किया।

मोक्ष-लक्षी धम-प्रधान संस्कृति

हमारा आर्यावर्त इस प्रकार के सदाचारी एवं ब्रह्मचारी वीर पुरुषों से सुशोभित था। इस देश की धरा पर संतगण ब्रह्मचर्य के गुण-गान करते और संसारी गृहस्थ जीवन में भी यथा शक्ति ब्रह्मचर्य का पालन करते थे।

भारत की आर्य प्रजा प्राप्त मानव जीवन का सार मोक्ष-प्राप्ति को और उसका सदुपयोग *करने में है यह मानती थी और इस कारण उनके जीवन का मुख्य लक्ष्य मोक्ष रहता है, जिसे प्राप्त* करने के लिये धर्म-प्रधान संस्कृति का सुव्यवस्थित आयोजन किया गया है।

आज तक इस संस्कृति को समाप्त करने के लिये और उसकी व्यवस्था को तोड़ ड़ालने के लिये अनेक झंझावात आये और गये, परन्तु यह सुव्यवस्था अनेक संतों एवं महा संतों द्वारा आयोजित होने से आज भी अड़िग चल रही है। जिन जिन व्यक्तियों ने इसे उखाड़ फैंकने के प्रयत्न किये वे सब काल के कराल गाल में समा गये।

इस सुव्यवस्था को आप धक्का न मारें

इस सुव्यवस्था को धक्का मारने का कार्य हमें कदापि नहीं करना चाहिये। हमें अपने व्यक्तिगत स्वार्थों अथवा वासनाओं के लिये उस व्यवस्था को तोड़ ड़ालने की वृत्ति अथवा प्रवृत्ति कदापि नहीं अपनानी चाहिये। कदाचित् यह करने से हमें कभी तत्कालीन लाभ के बदले अल्प लाभ अथवा हानि भी प्रतीत होती हो, परन्तु उसके अन्तिम परिणाम तो निश्चित रूप से लाभदायक ही

होंगे। तात्कालिक लाभों के विचार को प्रधानता देकर इस सुव्यवस्था के आयोजन को धक्का लगाने से अपना और समग्र आर्य-प्रजा का घोर अहित ही है। यह बात हमें अच्छी तरह समझ लेनी चाहिये।

अब हम मूल बात पर आते हैं। जो लोग आजीवन पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकते, उनके लिये विवाह करना और उस प्रकार से काम-पुरुषार्थ का सेवन करना अनिवार्य है।

अर्थ एवं काम पुरूषार्थ कब हो ?

यदि काम-पुरुषार्थ करना ही है तो वह पशुओं की तरह चाहे जिसके साथ और चाहे जिस प्रकार से उन्मत्त होकर नहीं किया जाता, परन्तु उसमें भी धर्म को ही प्रधानता दी जाती है और सदाचार आदि के द्वारा उसे नियन्त्रण में रखा जायें, जिसके लिये आर्यावर्त में विवाह की व्यवस्था हेतु उचित नियम निर्धारित किये गये हैं।

अर्थ एवं काम भी तब ही पुरुषार्थ बनते हैं, जब उन्हें धर्म के द्वारा अर्थ की वासना को नियन्त्रित किया जाये तो वह अर्थ पुरुषार्थ बनता है, अन्यथा वह अर्थान्धता कहा जायेगा।

इसी प्रकार से काम के उपभोग में परस्त्री-त्याग एवं स्वस्त्री-सन्तोष आदि के रूप में सदाचार स्वरूप धर्म के द्वारा काम-वासना को यदि नियंत्रित की जाये तो वह काम-पुरुषार्थ कही जायेगी, अन्यथा वह कामान्धता कहलायेगी।

आर्य देश के महा संतों ने सोचा कि यदि प्रजा को सचमुच सुखी एवं धर्मात्मा बनानी होगी तो उसे काम-वासना के सम्बन्ध में निश्चित नीति-नियमों का पालन करना ही होगा। इस कारण उन्होंने शास्त्रों के द्वारा ये समझा दिया कि किसके साथ विवाह किया जाये और किसके साथ विवाह नहीं किया जाये।

भिन्न गोत्रज तथा समान कुल-शील आदि वालों से विवाह

भिन्न गोत्र वाले एवं समान कुल तथा शील वाले के, साथ ही विवाह करना चाहिये। इस प्रकार का विवाह 'उचित विवाह' माना जायेगा।

जिस पुरुष अथवा स्त्री के पिता आदि सात पीढियों तक में एक हो जाते हों उन्हें समान गोत्र वाले कहा जाता है। ऐसे दो स्त्री-पुरुषों का विवाह नहीं होता। वह अनुचित विवाह कहलाता है।

समान गोत्री व्यक्ति से विवाह करने से दोनों का रक्त समान होने से उनकी सन्तानों में सांकर्य, हीनता आदि दोष होने की सम्भावना है और यदि व्यक्ति भिन्न गोत्री हों तो उपर्युक्त दोष नहीं होते। उनकी सन्तान बलवान्, बुद्धिमान एवं शीलवान होती है।

गोत्र भिन्न हो, परन्तु कुल एवं शील समान होने चाहिये।

पिता, दादा आदि पूर्वजों का वंश कुल कहलाता है। यह कुल दोनों पक्षों का उत्तम होना चाहिये। स्वयं यदि उत्तम हो, पर सामने वाला व्यक्ति निम्न कुल का हो तो वैवाहिक जीवन सुव्यवस्थित नहीं रहेगा।

शील अर्थात् आचार-विचार, यह भी दोनों पक्षों का समान होना चाहिये।

एक व्यक्ति मांसाहारी हो और दूसरा व्यक्ति शुद्ध शाकाहारी हो, एक मदिरा-पान करने वाला हो और दूसरा मदिरा का त्यागी हो, एक रात्रि-भोजन, कन्दमूल आदि का त्यागी हो और दूसरा उसका उपभोक्ता हो तो अत्यन्त कठिनाई हो जायेगी।

एक व्यक्ति का स्वभाव शान्त हो, जबकि दूसरा व्यक्ति अत्यन्त क्रोधी हो, एक व्यक्ति धार्मिक हो और दूसरा व्यक्ति सर्वथा नास्तिक हो, तो ऐसे कुजोड़ों में सतत संघर्ष, क्लेश, कलह आदि रहता है, जिससे दोनों के तथा उनकी सन्तानों के हृदय में भी सतत उद्वेग रहता है, जीवन में विपरीत प्रभाव दृष्टिगोचर होता है और कभी कभी एक दूसरे का वध कर ड़ालने की घटनाऐं भी हो जाती हैं।

न्यायालय में पति का वध करने वाली साधना

अंकारा नामक गाँव में घटित एक घटना का मुझे स्मरण हो आया है। कुछ वर्ष पूर्व की बात है। कॉलेज में अध्ययन करते समय रमेश एवं सलमा का परस्पर प्रेम हो गया। वे एक दूसरे पर मोहित हो गये। अत: उन दोनों ने परस्पर विवाह कर ड़ालने का निर्णय किया।

दोनों ने अपने अपने माता-पिता को बात कही। रमेश हिन्दू था और सलमा मुसलमान थी। अत: दोनों के माता-पिता ने इस कार्य का विरोध किया फिर भी उन्होंने उनकी बात न मान कर विवाह कर लिया।

रमेश ने सलमा का नाम बदल कर साधना रखा। इसमें सलमा को कोई आपत्ति नहीं थी।

गुलाबी तन-बदन, वाचालता, मोहकता एवं पारस्परिक आकर्षण यह सब देख कर उनका संसार सुखी प्रतीत होता था। विवाह के उपरान्त तुरन्त रमेश अपने माता-पिता से अलग हो गया था।

छ: माह तक तो उन दोनों का जीवन सुखी बना रहा परन्तु तत्पश्चात् साधारण-साधारण बातों में रमेश और साधना में कलह होने लगा।

एक दिन पारस्परिक मन-मुटाव से उन दोनों में संघर्ष हो गया। क्रोधावेश में साधना ने रमेश पर फौजदारी मुकदमा किया। रमेश ने भी मुकदमा लड़ने के लिये अपना वकील किया। मुकदमा चला।

साधना एवं रमेश के वकील आमने-सामने तर्क करने लगे। कैसी करुणा! एक समय के प्रेमी-पक्षी आज एक दूसरे के पंख काट ड़ालने के लिये मैदान में उतर गये थे।

न्यायाधीश के निर्णय सुनाने का दिन आ गया। साधना 'रिवाल्वर' लेकर न्यायालय में न्यायाधीश का निर्णय सुनने के लिये आई। न्यायालय का हॉल मनुष्यों से ठसाठस भर गया था। न्यायाधीशने निर्णय सुना दिया, ''वादी को प्रमाणों के अभाव में निर्दोष मानकर मुक्त किया जाता

है।''

तुरन्त 'रिवोल्वर' में ठा ... ठा ... ठा ... तीन गोलियों की आवाज आई। गोली दागने वाली अन्य कोई नहीं, रमेश की एक समय की प्रियतमा सलमा उर्फ साधना ही थी, जिसने अपने प्रियतम रमेश को गोलियों से भून दिया था। रमेश की देह तुरन्त लुढ़क गई और उसके प्राण पखेरू उड़ गये।

सिपाहियों ने दौड़कर साधना को गिरफ्तार कर लिया। उसके चहरे पर तनिक भी शोक अथवा उदासी नहीं थी। वह मुस्कराती हुई बोली, ''अब चाहे मेरा कुछ भी हो, मुझे उसका तनिक भी खेद नहीं है। मैंने उसका काम तमाम कर दिया और मेरा कार्य पूर्ण हो गया। ऐसे मूर्खों के साथ जीवन यापन करने की अपेक्षा तो उन्हें मृत्यु के मुँह में ही झौंक देना चाहिये और इस कारण ही मैंने ऐसा किया है।''

बताइये-रमेश को क्यों मरना पड़ा? माता-पिता के आशीर्वाद के बिना उसने एक ऐसी अयोग्य एवं नीच कुल की लड़की को पसन्द किया था, जिसने उसका जीवन मिट्टी में मिला दिया।

नीच कुल के व्यक्ति के साथ विवाह करने से कैसा भयंकर परिणाम होता है उसका इस कथा से हमें अच्छा आभास होता है।

नाथालाल के जीवन को नष्ट करने वाली सरला

नीच रक्त का व्यक्ति पता नहीं कब अपना पोल खोल दे, उसका कोई विश्वास नहीं होता। नाथालाल ने ऐसी ही किसी आभागन स्त्री के साथ विवाह कर लिया था। भाग्य ने उसे ऐसी नीच स्त्री के साथ बाँध दिया था। नाथालाल था तो निर्धन, परन्तु भाग्यवश सट्टा करते-करते वह रातों-रात लाखों रूपयों का स्वामी हो गया था।

सट्टे की लत में वह ऐसा पड़ा कि कुछ न पूछो। ज्यों ज्यों वह लाभ अर्जित करता गया, त्यों त्यों उसके लोभ में वृद्धि होती गई। अनेक कपटी मित्रों ने उसे चारों ओर से घेर लिया था।

एक समय ऐसा आया कि नाथालाल जुए में हारता ही गया, हारता ही गया। धीरे-धीरे उसने अपनी समस्त सम्पत्ति खो दी। अपनी पराजय को विजय में परिवर्तित करने के लिये वह जुआ खेलता ही गया और अन्त में लाखों रूपयों का ऋण ऊपर आने पर वह हताश हो गया।

घर की ओर जाते हुए नाथालाल का चहरा उतर गया था। उसके पाँव शराबी की तरह लड़खड़ा रहे थे। ऋण नहीं चुका सकने पर अपनी प्रतिष्ठा समाप्त हो सकती थी। वह व्याकुल था, समझ नहीं पा रहा था कि क्या किया जाये?

इतने में उसे किसी बात का स्मरण हो आया और वह खुश-खुश हो गया। उसे अपनी पत्नी के आभूषणों का स्मरण हुआ। सस्ते भाव के समय उसने अपनी पत्नी सरला को एक लाख रूपयों के आभूषण बनवा कर दिया थे। नाथालाल ने सोचा, ''सरला को मेरे प्रति अनन्य प्रेम है,

अत: मेरी प्रतिष्ठा बचाने के लिये वह अपने आभूषण मुझे अवश्य दे देगी, क्योंकि वह अनेक बार कहती आपके अतिरिक्त संसार में मेरे लिये क्या है? आप ही मेरे सर्वस्व हैं। आपके लिये मैं अपने प्राण तक देने के लिये प्रस्तुत हूँ।''

सरल प्रकृति वाले नाथालाल ने सरला के शब्द सत्य मान लिये थे, अत: वह प्रसन्न हो रहा था। घर पहुँच कर, वे तू मुझे दे दे क्योंकि अभी मेरी प्रतिष्ठा दाव पर है। कल पुन: धन प्राप्त होने पर मैं तुझे दो लाख के आभूषण बनवा कर दे दूँगा।''

नाथालाल के मन में विश्वास था कि मेरे कहने पर सरला सरलता से तुरन्त मुझे आभूषण दे देगी, परन्तु उसका अनुमान मिथ्या सिद्ध हुआ। सरला को स्पष्ट कह दिया, ''आभूषण कदापि दिये जाते होंगे। आप कुछ भी करें, परन्तु आभूषण तो मैं नहीं दूंगी।''

सरला के उत्तर से नाथालाल को भारी आघात लगा। उसने सरला को स्मरण कराया, ''तू तो मेरे लिये प्राण तक देने को तैयार थी, तो आज आभूषणों के लिये इनकार क्यों कर रही है?'' परन्तु सरला तो टस से मस नहीं हुई। वह आभूषण देना ही नहीं चाहती थी।

सेठ नाथालाल को अन्तिम उपाय भी विकल होता दिखाई देने पर उसने घर त्याग दिया। सरला जानती थी कि, ''कहाँ जायेगा? अभी लौट आयेगा।''

परन्तु वह गया सो गया। तीस वर्षों तक नाथालाल का कोई पता नहीं लगा, फिर भी नकटी सरला बन ठन कर बाहर निकलती और आभूषण भी पहनती। जब उसे कभी कोई कहता, ''सरला! अब तुझे विधवा की तरह रहना चाहिये। यह सब तेरे लिये शोभनीय नहीं है।''

तब सरला स्पष्ट कहती, ''मेरे पति का शव लाओ तो ही मैं विधवा कहलाऊँगी।''

नाथालाल सेठ का जीवन नष्ट किसने किया? उसकी पत्नी सरला ने। सरला जैसी नीच कुल की स्त्री के साथ विवाह करके नाथालाल ने गम्भीर भूल की थी और यही उसका जीवन नष्ट करने का मूल कारण था।

हमारा जीवन अत्यन्त मूल्यवान् है। दुर्लभ मानव जीवन को सफल करने में अथवा नष्ट करने में 'जीवन-साथी' का प्रधान भाग होता है। अत: विवाह करने में जीवन-साथी का चुनाव करते समय अत्यन्त विवेक से काम लेना आवश्यक है।

प्रश्न - हमारा जीवन-साथी कैसा भी व्यक्ति हो परन्तु 'आप भला तो जग भला।' हम यदि अच्छे हों तो दूसरा व्यक्ति भी इच्छा होगा। हमें यदि जीवन में धर्माराधना करनी हो तो जीवन-साथी की अयोग्यता हमें रोक नहीं सकती।

उत्तर - यह बात पूर्णत: सत्य नहीं है। अधिक उच्च कुल के जीवों की बात भिन्न है, जिन्हें निमित्त का प्रभाव नहीं होता हो। अन्यथा, सामान्यतया जीव निमित्तवासी होते हैं। उन्हें जैसा निमित्त मिलता है, वैसा उनका जीवन हो जाता है।

इस कारण जीवन-साथी रूपी निमित्त जितना उत्तम होगा, उतना ही उत्तम जीवन होने की संभावना अधिक रहती है। यदि जीवन-साथी निम्न कोटि का होता है तो वह धर्म में अन्तराय भूत होता है, वह जीवन को अधोगामी बनाने में महान् कारण बनता है।

निमित्त का कैसा प्रबल प्रभव होता है? यह बात स्पष्टतया समझने के लिये एक सत्य घटना प्रस्तुत है।

यूरोप के किसी देश के पति-पत्नी थे। वे रंग-रूप में अत्यन्त गौर वर्ण के थे। उनका जीवन अत्यन्त सुखमय था, परन्तु एक घटना ने उनके जीवन में अशान्ति की हवा भर दी जिससे उनका जीना दू भर हो गया।

उस स्त्री के प्रथम बालक का जन्म हुआ, तब वह हब्शी के समान श्याम वर्ण का प्रतीत होता था, जिससे उसके गौर वर्ण वाले पति के हृदय में शंका उत्पन्न हुई कि मेरी पत्नी सचमुच चरित्रहीन होनी चाहिये, उसका सम्बन्ध किसी हब्शी के साथ होना चाहिये, अन्यथा हब्शी जैसा कुरूप बालक उत्पन्न क्यों होता?'

परन्तु वास्तव में तो वह स्त्री पूर्णत: निर्दोष थी। अत: पतिने जब उसके समक्ष अपना सन्देह प्रस्तुत किया तो उस स्त्री ने उसका पक्का विरोध किया और स्वयं निर्दोष होने के कारण उसने अपना पक्ष प्रबल रूप से प्रस्तुत किया।

पति नहीं माना। वह इस बात का न्यायालय में ले गया। मुकदमा चला, जाँच हुई, परन्तु न्यायाधीश भी सत्य बात को ज्ञात नहीं कर पा रहा था। अत: वह भी अत्यन्त उलझन में था।

अन्त में न्यायाधीश ने पति-पत्नी का शयनागार देखने की इच्छा प्रदर्शित की। वह उनके घर आया। शयनागार को देखते ही एक महत्वपूर्ण बात उसके ध्यान में आ गई।

दूसरे दिन न्यायाधीश निर्णय सुनाने वाला था। न्यायालय में मनुष्यों की अपार भीड़ एकत्रित थी। न्यायाधीश ने निर्णय सुनाया कि, ''गर्भाधान के समय इस स्त्री की दृष्टि उनके शयनागार में लगे पति के किसी हब्शी मित्र के चित्त की ओर थी। इस कारण इस स्त्री का बालक हब्शी के समान रंग-रूप वाला उत्पन्न हुआ है। यह स्त्री चरित्रहीन होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। अत: इसे निर्दोष घोषित की जाती है।''

न्यायाधीश के बुद्धिमानी से पूर्ण निर्णय को सुनकर लोग स्तब्ध रह गये। इस घटना से हमें निमित्त के प्रबल प्रभाव का ज्ञान होता है।

यदि अल्पकालीन निमित्त का भी इतना अधिक प्रभाव होता है तो सम्पूर्ण जीवन जिस व्यक्ति के साथ व्यतीत करना हो वह पति अथवा पत्नी रूपी निमित्त निम्न कोटि का हो तो जीवन कैसा नष्ट हो जायेगा? स्वयं का जीवन तो नष्ट होता ही है, परन्तु भावी सन्तानों पर भी इसका कितना विपरीत प्रभाव पड़ता है?

यदि खानदानी और कुलीन व्यक्ति के साथ विवाह सम्बन्ध हुआ हो तो वह धर्म-कार्य में सहायक होता है। इस दृष्टि से ही पत्नी को धर्म-पत्नी कहा जाता है। धर्म-पत्नी अर्थात् धर्म में लगाने वाली और पाप-मार्ग से दूर करने वाली पत्नी। ऐसी पत्नी महान् पुण्योदय से ही प्राप्त होती है। इसी प्रकार से धार्मिक पति भी पुण्योदय से ही प्राप्त होता है।

विवाह करने की इच्छा पापोदय से होती है, परन्तु विवाह के लिये उत्तम पात्र पुण्योदय से प्राप्त होता है। उत्तम से तात्पर्य रंग-रूप में उत्तम, खानदानी तथा धर्म निष्ठ से है। हमें रंग-रूप को और दिखाव को अत्यन्त महत्व नहीं देना चाहिये, परन्तु खानदान एवं धर्म-निष्ठा को पूर्ण महत्व देना चाहिये।

यदि रूप-रंग एवं दिखावे में कम हो, परन्तु खानदानी और धार्मिक पात्र प्राप्त होता हो तो रूप आदि को गौण करके भी उस उच्च कुलीन एवं धार्मिक पात्र को पसन्द करना चाहिये। एक बात अच्छी तरह हृदय में दृढ़ कर लेनी चाहिये कि वैवाहिक जीवन भोग-विलास के लिये नहीं होकर योग-साधना के लिये है।

काम-वासना के अत्यन्त उपभोग के लिये विवाह नहीं होता। जीवन में ब्रह्मचर्य रूपी योग की यथा संभव अधिकाधिक साधना हो और उसमें कभी तीव्र मोह के उदय से वासना उत्पन्न हो तो उसका शमन करने के लिये कामोपभोग होता है। यह कामोपभोग अत्यन्त मर्यादित होना चाहिये और सदाचार के अनुरूप होना चाहिये।

अब जब वैवाहिक जीवन मुख्यत: ब्रह्मचर्य आदि धर्म की साधना के लिये ही है तो प्राप्त जीवन-साथी रूपी निमित्त भी उत्तम हो, धार्मिक हो तो ही उस साधना में सफलता प्राप्त होती है। यदि जीवन-साथी अत्यन्त कामी हो, क्रोधी हो, विषय-वासना की तीव्रता से युक्त हो तो आप ब्रह्मचर्य आदि धर्मों की आराधना कैसे कर सकोगे?

उच्च कुल का धर्मनिष्ठ व्यक्ति जीवन-साथी के रूप में प्राप्त हो तो कभी समय आदि के शुभ मार्ग पर जाने में भी वह आप का सहायक होगा, अवरोधक नहीं।

वज्रबाहु एवं मनोरमा की अद्भुत कथा -

महात्मा वज्रबाहु रामचंद्रजी के पूर्वज थे। युवावस्था प्राप्त होने पर उनके माता-पिता में राजा इभवाहन की पुत्री मनोरमा के साथ उनका विवाह कर दिया। ससुराल के उत्तम आतिथ्य का आनन्द लेकर उन्होंने अपने निवास की ओर प्रयाण किया। स्वयं वज्रबाहु, उनकी पत्नी मनोरमा और उनका साला उदय सुन्दर तीनों साथ साथ एक सुन्दर रथ में बैठकर जा रहे थे।

प्रात:काल का समय था। जब उनका रथ एक टेकरी के समीप होकर आगे बढ़ रहा था, तब वहाँ टेकरी पर गुणसागर नामक एक महात्मा ध्यानस्थ खड़े थे। उन्हें देख कर वज्रबाहु का अन्तर मुनिवर के चरणों में मानो झुक गया। वे बोले, ''प्रबल पुण्य योग से आज इन मुनिवर के मैंने दर्शन

प्राप्त किये। साक्षात् चिन्तामणि रत्न तुल्य ये मुनिवर सचमुच महात्मा हैं, दर्शनीय एवं वन्दनीय हैं।''

विवाह-बंधन में बँधे अभी चौबीस घंटे भी व्यतीत नहीं हुए उन वज्रबाहु ने महात्मा के दर्शनार्थ अपना रथ रोक लिया। उनके मुख-कमल पर विरक्ति की तनिक झलक देखकर उनके साले उदय सुन्दर ने अपने बहनोई की मजाक करते हुए कहा, ''क्यों बहनोईजी! इन महात्मा के दर्शन करने में कोई साधु होने की भावना तो जाग्रत नहीं हो गई? देखना, ऐसा कुछ हो तो कहें। आप मेरे गुरू और मैं आपका शिष्य। उत्तम कार्य में तो हम दोनों साथ ही रहेंगे न?''

वज्रबाहु ने कहा, ''सालाजी! इनके दर्शन करके और इनका प्रसन्नतापूर्ण जीवन देखकर मेरा मन तो साधु हो जाने का ही हो गया है और उसमें भी यदि आप जैसे का साथ प्राप्त हो तो फिर अन्य विचार करें भी क्यों?''

वसन्तशैल टेकरी पर चढ़ते हुए कुमार वज्रबाहु की चाल में परिवर्तन आ गया। क्षण भर पूर्व सुखी गृहस्थी के स्वप्न देखने वाले उनके नेत्र, उनकी वाणी, उनकी मुखाकृति सब कुछ बदल गये।

अभी तक तो मनोरमा के साथ बँधा हुआ छोर भी छूटने नहीं पाया था कि वज्रबाहु की वैराग्यमय बातें और वैराग्यमय रंग-ढंग देखकर उनका साला उदयसुन्दर तनिक चौंका। वह बोला, ''परन्तु बहनोईजी! सचमुच यदि आप दीक्षा अंगीकार करना ही चाहते हो तो आपने मेरी बहन का कुछ विचार किया है? आप चले जायेंगे तो फिर इसका कौन होगा?''

तब वज्रबाहु पल भर के लिये रुक गये और बोले, ''उदय सुन्दर! तेरी बहन मनोरमा कुलीन है अथवा अकुलीन? यदि वह कुलीन है तो कुछ भी सोचने की आवश्यकता ही नहीं है। जो पति का मार्ग होता है वही कुलीन पत्नी का मार्ग होता है। यदि मैं दीक्षा अंगीकार कर लूँ तो वह भी दीक्षा लेकर आत्म-कल्याण करे। यदि वह अकुलीन है तो भी उसका पथ मंगलमय हो, परन्तु मुझे अब ये संसार के भोग-विलास नहीं चाहिये।''

बस, बाजी बदल गई। अब तक सुखमय संसार की कल्पना में झूमती मनोरमा का मन पति के उपर्युक्त वचन श्रवण करके बदल गया। उसने भी दृढ़ संकल्प कर लिया, ''जिस पथ पर पति, उस पथ पर मेरा भी मंगल प्रयाण हो।''

और वज्रबाहु, मनोरमा और उदयसुन्दर ने उन महात्मा से दीक्षा अंगीकार कर ली। उनके साथ अन्य पच्चीस राजकुमारों ने भी दीक्षा अंगीकार की। इतना ही नहीं, वज्रबाहु के दीक्षित होने के समाचार सुन कर उनके विजय राजा ने भी संयम ग्रहण किया।

यह है उच्च कोटि के रक्त-युक्त व्यक्तियों और उच्च कुल में उत्पन्न आत्माओं की अद्भुत कथा।

उच्च कुल एवं उत्तम रक्त वाली आत्मा अपने जीवन साथी एवं आश्रित व्यक्तियों को भी धर्म के उत्तम मार्ग पर अग्रसर करती है।

यदि पति अथवा पत्नी धार्मिक वृत्ति वाले न हों, सदाचार के पालक न हों तो वे अपनी सन्तानों में भी उत्तम संस्कारों का बीज बोने में समर्थ नहीं होते। अत: केवल अपने व्यक्तिगत सुख अथवा पसन्द को प्रधानता न देकर ''मेरे जीवन में प्रविष्ट होने वाला पात्र (पति अथवा पत्नी) मेरी भावी सन्तान में उत्तम संस्कार ड़ाल सकेगा अथवा नहीं?'' इसकी अत्यन्त ध्यानपूर्वक जाँच करके उसे ही प्राथमिकता एवं प्रधानता देनी चाहिये।

अत: हमें समान शील एवं कुल वाले व्यक्ति के साथ विवाह करना चाहिये। समान आचार एवं विचार युक्त जीवन साथी जीवन में उत्तम धर्म एवं संस्कार ड़ालने में और उन्हें सुदृढ़ करने में अत्यन्त सहायक होता है।

अनुपमा देवी का अनुपम परामर्श

जब वस्तुपाल एवं तेजपाल अपनी अपार सम्पत्ति भूमि में गाड़ने के लिये गये, तब उनका पुण्य प्रबल होने से भूमि खोदने पर उसमें से चरू निकला, जिसमें अपार धन था। उन्होंने सोचा, ''अब क्या करें? इतना अधिक धन कहाँ ड़ालें?

दोनों भाई चिन्ता में पड़ गये। उस समय तेजपाल की पत्नी श्रीमती अनुपमा देवी ने परामर्श दिया, ''इस धन का उपयोग ऐसे स्थान पर करो कि जिसके द्वारा लाखों जीव सुमार्ग प्राप्त करें, परमात्म-पद को स्पर्श करने की साधना करें और जिन-भक्ति में लगकर सिद्धत्व प्राप्त करें।

''धन का श्रेष्ठ सदुपयोग जिन मन्दिर का निर्माण कराने में है। देवाधिदेव भगवान श्री जिनेश्वर परमात्मा का ऐसे भव्य नैन-रम्य मंदिर का निर्माण कराओ कि लोग धन के इस सर्वोत्तम सदुपयोग को निहार कर चकित हो जायें, परन्तु उस धन को वे लूटना चाहें तो भी लूट न सकें।''

अनुपमा देवी के उस उत्तम परामर्श के प्रताप से ही आबू पर्वत पर देलवाड़ा के अति भव्य एवं रमणीय कलाकृतियों से सुशोभित जिनालयों का निर्माण हुआ, जिन्हें देखकर आज भी सहस्त्रों नेत्र शीतलता अनुभव करते हैं।

आबू के भव्य जिनालयों के निर्माण का कारण कौन है? अनुपमादेवी जैसी उत्तम रक्त एवं कुलीनता वाली स्त्री के साथ तेजपाल का सम्बन्ध। उत्तम कोटि की पत्नी के साथ सम्बन्ध ने तेजपाल के जीवन को भी उत्तम धर्म-मार्ग का महान् प्रवासी बनाया।

पुनिया की महानता में धर्मपत्नी का योगदान -

भगवान महावीर के श्रीमुख से प्रशंसित महान् श्रावक पुनिया में परमात्मा के श्रीमुख से स्वधर्मी भक्ति की महिमा श्रवण कर स्वधर्मी भक्ति करने का मनोरथ जाग्रत हुआ। अत्यन्त अल्प कमाई वाला पुनिया नित्य केवल दो व्यक्ति ही भोजन कर सकें उतना अर्जित करता था। शेष समस्त समय वह सामायिक आदि धर्म-साधना में ही व्यतीत करता था।

अब क्या हो? नित्य एक स्वधर्मी व्यक्ति को यदि भोजन कराना हो तो तीन व्यक्तियों के

खाने जितना धन अर्जित करना पड़े। यदि तीन व्यक्तियों के खाने जितना धन उपार्जित करने जाये तो धर्म-कार्य में इतना समय कम प्राप्त होगा जो पुनिया को स्वीकार नहीं था।

पुनिया ने अपनी धर्मपत्नी को यह बात कही और दोनों ने मिल कर निर्णय किया, ''उपार्जन तो दो व्यक्तियों के लिये पर्याप्त हो उतना ही करना, ताकि धर्म-साधना का समय कम न हो, परन्तु एक दिन पति उपवास करे और एक स्वधर्मी की भक्ति करे तथा दूसरे दिन पत्नी उपवास करे और एक स्वधर्मी को भोजन कराये।''

कैसा अद्भुत निर्णय! धर्म की ज्वलन्तता का प्रतीक तुल्य ऐसा निर्णय यदि धर्मपत्नी कुलीन एवं उत्तम संस्कार युक्त न हो तो क्या संभव है? कदापि नहीं।

इस प्रकार पुनिया के महान् श्रावकत्व में सहायक होने वाली उसकी धर्म पत्नी का योगदान कोई कम नहीं है।

स्त्री घर में पूर्णतः स्वतन्त्र

स्त्रियों को स्वतन्त्रता देनी चाहिये - वर्तमान काल में इस नारे के आधार पर स्त्रियों के शील और सदाचार को गौण मान लिया गया है। स्त्रियों को घर की चार दीवारी से बाहर निकाल कर सर्वत्र भ्रमण करने का अवसर प्रदान करना चाहिये ताकि उनका ज्ञान व्यापक हो सके - इस विचारधारा के कारण स्त्रियों को स्वतन्त्रता तो प्राप्त हुई ही, उन्हें विश्व भर का ज्ञान भी प्राप्त हुआ, परन्तु जिन नारियों ने स्वतन्त्रता का लाभ उठाया उन्होंने अपना शील भी खोया, सदाचार को ताक पर रख दिया, जिससे उत्तम धर्म-संस्कारों एवं सांस्कृतिक मर्यादाओं का लोप हो गया।

यदि इस प्रकार की ही नारी जीवन-साथी बनकर आपके घर में प्रविष्ट हो तो उसके हाथों आपकी भावी सन्तान का पालन-पोषण धार्मिक, संस्कारी एवं सद्गुणों से परिपूर्ण होने की आशा कैसे की जा सकती है?

आर्य संस्कृति ने 'न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति' (स्त्री स्वतंत्रता के योग्य नहीं है) ऐसा जो ऋषि-प्रणीत सूत्र स्वीकार किया है वह स्त्री को घर से बाहर के क्षेत्र में स्वतंत्रता प्रदान करने के निषेध का सूचक है। अन्यथा अपने घर में तो स्त्री पूर्णरूपेण स्वतंत्र ही है।

बालकों के लालन-पालन, पति-पराणयता, भोजन बनाने और गृह-कार्य में दक्षता आदि बातों में स्त्री सम्पूर्णत: मुक्त है। इस दृष्टि से ही स्त्री को घर की उपमा देने वाले आर्ष वाक्य भी हमारी संस्कृति में दृष्टिगोचर होते हैं। 'गृहिणी गृहमुच्यते' अर्थात् गृहिणी ही घर है।

जो स्त्री अपना घर सम्हालने में समर्थ नहीं है वह बाह्य संसार का चाहे जितना ज्ञान प्राप्त कर ले अथवा चाहे जितनी स्वतंत्रता प्राप्त कर ले, उसका कोई अर्थ ही नहीं है। उल्टा यह विश्व-ज्ञान और स्वतंत्रता उसका और उसके परिवार के सदस्यों का अत्यन्त अहित कर ड़ाले तो भी कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

पात्र के चयन में निम्न बातें ध्यान में रखे

इस कारण विवाह करने के लिये पात्र का चयन करने में मार्गानुसारी आत्मा को निम्नाकिंत बातें ध्यान में रखनी चाहिये

1. पात्र सांस्कृतिक मर्यादाओं को स्वीकार करने में विश्वास करता हो, समयवाद का मिथ्या पक्षधर न हो।

2. पात्र उद्धत, उच्छ्रंखल एवं स्वच्छन्द न हो, धार्मिक एवं सांस्कृतिक नीति-नियमों को मानने वाला हो।

3. पात्र निरोग हो, रोगी पात्र से विवाह नहीं करना चाहिये, विकलांग एवं विक्षिप्त (पागल) के साथ भी विवाह नहीं होता, क्योंकि ये विवाह अनुचित माने जाते हैं।

4. योग्य आयु होने पर ही विवाह करना चाहिये, सामने वाले पात्र की भी योग्य आयु ही होनी चाहिये।

5. उत्तम, कुलीन, प्रतिष्ठित, धार्मिक एवं समानभाषी व्यक्ति के साथ विवाह करना चाहिये।

6. समान कुल एवं समान आचार-विचार वाले पात्र के साथ विवाह करना चाहिये।

उपर्युक्त प्रकार के पात्र के साथ विवाह-सम्बन्ध उचित विवाह कहलाता है, इसके अतिरिक्त विवाह 'अनुचित विवाह' कहलाते हैं।

चतुर्थ गुण

पाप न करे तीव्र भाव से...

पाप - भीरूता

भारतीय संस्कृति बताती है कि आर्य देश का कोई भी व्यक्ति पाप करेगा ही नहीं, क्यों? नीतिशास्त्र ने इसके भिन्न-भिन्न कारण बताये हैं।

सांसारिक व्यवहार में कायरता-भीरूता दुर्गुण है, परन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में पापाचरण के प्रति भीरूता को गुण माना गया है।

जो पाप-भीरु है वह प्राय: दु:खी नहीं रहेगा और कदाचित् पूर्व भव के पापोदय से बाह्य रूप से दु:खी हो जाये, तो भी उसकी मानसिक स्थिति उन दु:खों के कारण दीनतापूर्ण नहीं होगी।

समस्त दु:खों का मूल पाप है - यह ज्ञात होने के पश्चात् दु:ख भीरू होने के बदले अब पाप-भीरू होने की अत्यन्त आवश्यकता है।

पाप-भीरू क्यों होना चाहिये? हमारे देश के राजा ही नहीं, चोर एवं बागी भी कैसे पाप-भीरू थे? पाप-भीरू बनने के लिये हमें क्या करना चाहिये?

इस प्रकार के प्रश्नों एवं प्रसंगों के प्रस्तुतीकरण के साथ स्पष्ट करते इस गुण का आप अवश्य पठन-मनन करें।

मार्गानुसारी आत्मा का चतुर्थ गुण है - पापों से भीरूता।

मार्गानुसारिता के गुणों में चतुर्थ है -
पाप-भीरुता

सांसारिक व्यवहार में भयभीत होने, घबराने को कायरता माना जाता है, जबकि आध्यात्मिक जगत् के व्यवहार में भयभीत होने, घबराने को वीरता की श्रेणी में माना जाता है। यह भय, घबराहट पाप से होनी चाहिये।

मानव से कदापि भयभीत नहीं होने वाला धर्मात्मा व्यक्ति पाप से तो अवश्य ड़रता ही है। जिस व्यक्ति के अन्तर में पाप का पाप के रूप में भय उत्पन्न न हुआ हो, वह व्यक्ति संसार में कदापि उत्तम मनुष्य नहीं बन सकता।

उत्तम, मध्यम अथवा अधम, कोई पाप नहीं करता

नीतिशास्त्र का तो कथन है कि आर्य देश का कोई भी व्यक्ति कदापि पाप करता ही नहीं।

उत्तम, मध्यम एवं अधम तीन भेद बताये गये हैं, जिनमें से

उत्तम मनुष्य भी पाप नहीं करता।

मध्यम मनुष्य भी पाप नहीं करता।

और अधम मनुष्य भी पाप नहीं करता।

क्योंकि उत्तम मनुष्य का तो स्वभाव ही ऐसा होता है जिस से वह पाप नहीं करता। उसे यदि पूछा जाये कि ''भाई! तू पाप क्यों नहीं करता?''

वह इसका उत्तर इस प्रकार देता है कि, ''भाई! पाप हो ही क्यों? पाप नहीं किया जाता।''

बस, इस प्रकार जिसे स्वभाव से ही पाप प्रिय नहीं है और जो पाप नहीं करता वह उत्तम है।

मध्यम मनुष्य भी पाप नहीं करते। वे स्वभाव से ही पाप नहीं करें ऐसी बात नहीं है, परन्तु परलोक में इन पापों के फल भोगने पड़ते हैं जिन्हें भोगने की उनमें शक्ति नहीं होती। अत: परलोक के भय से मध्यम मनुष्य पाप नहीं करते।

आर्यदेश के अधम मनुष्य भी पाप नहीं करते। यद्यपि वे मध्यम मनुष्यों की तरह परलोक आदि को नहीं मानते होते हैं, तो भी वे पाप नहीं करते, क्योंकि उन्हें इस लोक का भय होता है - 'यदि मैं पाप करता हुआ पकड़ा जाऊँगा तो? तो तो मेरी प्रतिष्ठा मिट्टी में मिल जायेगी और अपमानित होकर तो मैं जीऊँगा कैसे? इससे तो पाप नहीं करना ही उचित है।' इस प्रकार की विचारधारा से अधम मनुष्य भी पाप नहीं करता।

इस प्रकार आर्यदेश के उत्तम, मध्यम एवं अधम मनुष्य कदापि पाप नहीं करते थे, जबकि वर्तमान मनुष्य धड़ाधड़ पाप करते हैं। स्वभाव से उन्हें पाप प्रिय नहीं हो, ऐसा तो नहीं है, परन्तु उन्हें

न तो परलोक का भय है और न जगत् में अपमानित होने का भय है। वे तो सर्वथा निर्लज्ज हो गये हैं। ऐसे मनुष्यों को मनुष्य कहना भी एक प्रश्न है अथवा इन्हें अधमों में भी अधम कहा जाये।

'पाप' किसे कहते हैं?

प्रश्न-आपने बताया कि आर्यावर्त का कोई भी मनुष्य पाप नहीं करेगा, परन्तु यह तो बताओ कि पाप कहते किसे हैं?

उत्तर - आपका प्रश्न सुन्दर है। सामान्यतया जैन शास्त्रों में अठारह प्रकार के पाप बताये है - 1. हिंसा, 2. असत्य, 3. चोरी, 4. अब्रह्म, 5. परिग्रह, 6. क्रोध, 7. मान, 8. माया, 9. लोभ, 10. राग, 11. द्वेष, 12. कलह, 13. जालदेना, 14. चुगली करना, 15. रति एवं अरति करना, 16. दूसरों की निन्दा करना, 17. माया पूर्वक असत्य कहना, 18. मिथ्यात्व।

इन के अतिरिक्त भी कुछ अन्य पाप हैं जैसे - सात महा व्यसन - 1. मदिरा पान, 2. मांसाहार, 3. शिकार, 4. जुआ खेलना, 5. परस्त्रीगमन करना (स्त्रियों के लिये पर पुरुष गमन करना), 6. वेश्यागमन करना और 7. चोरी करना।

इन सात व्यसनों को आर्य देश के समस्त धर्म 'पाप' मानते हैं और उनको त्याग करने का उपदेश देते हैं।

इनके अतिरिक्त भोजन से सम्बन्धित भी सात पाप हैं - 1. शहद खाना, 2. मक्खन खाना, 3. कन्दमूल खाना, 4. रात्रि भोजन करना, 5. विगयों का अधिक उपयोग करना, 6. विदल अर्थात् कच्चे दूध अथवा दही के साथ कोई कठोल खाना, 7. बासी भोजन करना (अचार-रोटी आदि)

ये सात भोजन सम्बन्धी पाप हैं, इन्हें छोड़ना ही चाहिये।

इनके अतिरिक्त वर्तमान समय में अन्य पापी भी हैं - जैसे गर्भपात कराना, तलाक लेना, परिवार नियोजन के साधनों का उपयोग करना, चित्रपट देखना और तड़क-भड़क के वस्त्र पहनना। इनके अतिरिक्त शीतल पेय, बर्फ, आईस्क्रीम, पान, तम्बाकू, सिगरेट, अण्ड़ों आदि से युक्त अभक्ष्य चॉकलेट और कैडबरी की वस्तुऐं खाना।

संक्षेप में पाप वह है जिसके कारण इस लोक अथवा परलोक में पाप करने वाले जीव को दु:ख भोगना पड़े।

इस प्रकार के समस्त पापों को (अथवा यथा शक्ति समस्त पापों को) जीवन में से निष्कासित करना चाहिये।

पापों को जीवन में से तिलांजलि देने के लिये पापों से भयभीत होना चाहिये। भय भी कैसा? अपार भय। जिस प्रकार 'अरे साँप' इस प्रकार किसी को बोलता सुनते ही देह काँपने लग जाती है उसी प्रकार से पाप का नाम सुनते ही भय लगना चाहिये।

पपीते से भय के समान पाप से भय रखो -

उस फूलचंद सेठ को पपीते से कैसा भय लगा? फूलचंद सेठ को एक दिन उदर-शूल की वेदना हुई। किसी भी प्रकार से वेदना शान्त नहीं हो रही थी। एक साथ एक सौ सुइयाँ चुभ रही हों ऐसी वेदना थी जो न तो मिट रही थी और न सहन हो रही थी। अब क्या किया जाये?

सेठ का ज्येष्ठ पुत्र जीवचंद समीपस्थ ग्राम निवासी तरभाशंकर वैद्य को बुला लाया। इनकी उस क्षेत्र में अत्यन्त ख्याति थी। इन्हें लोग दूसरा 'धनवन्तरी' मानते थे। भारी भारी रोगों को मिटाने की तरभाशंकर वैद्य में कला थी।

वैद्य ने सेठ की परीक्षा करके पुड़ियाँ बाँध दी और कहा, ''अब भविष्य में आप दही अथवा दही से बनी किसी भी वस्तु का सेवन न करें। यदि यह नियम भंग करोगे तो काल के ग्रास बन जाओगे। फिर मैं भी आपको बचा नहीं सकूँगा।''

फूलचंद सेठ की वेदना इतनी भयानक थी कि वह वैद्य जो कहे वह करने के लिये तत्पर था। उसने वैद्य की बात स्वीकार की। वैद्य ने तुरन्त एक पुड़िया उसे खिलाई और वे दस मिनट तक नहीं बैठे रहे। दस मिनट में पुड़िया ने अपना चमत्कार बता दिया। सेठ का उदर-शूल शान्त हो गया। सब लोग आश्चर्यचकित होकर वैद्य की ओर देखने लगे। तत्पश्चात् वैद्यजी अपने निवास पर चले गये।

तत्पश्चात् बीस वर्ष व्यतीत हो गये। एक दिन सेठ के घर श्रीखंड़ बना। सब लोगों ने सेठ को भी थोड़ा श्रीखंड़ खाने का आग्रह किया और उन्होंने भी सबकी बात मानकर थोड़ा श्रीखंड़ खा लिया। तीन-चार घंटों के पश्चात् वर्षों पुराना उदर-शूल होने लगा। सेठ मछली की तरह तड़पने लगे। वेदना असह्य थी।

सेठ का ज्येष्ठ पुत्र तरभा वैद्य के पास भागा। भाग्यवश अभी तक वयोवृद्ध वैद्य जीवित थे। उन्होंने तुरन्त आने से इनकार कर दिया - ''जो मेरे कथनानुसार पथ्य का पालन नहीं करे, उसे मैं कदापि औषधि नहीं देता।''

परन्तु जीवचंद ने अत्यन्त अनुनय-विनय की, वह उनके चरणों में गिरा तो वैद्य का हृदय द्रवित हो गया और वे फूलचंद के घर आये। उन्होंने पथ्य नहीं पालने के कारण सेठ को अत्यन्त उपालम्भ दिया, फिर औषधि दी और कहा, ''भविष्य में आप पपीता कदापि नहीं खायें।''

सेठ ने उत्तर दिया, ''आपकी बात स्वीकार है।''

सेठ का रोग चला गया। तत्पश्चात् फूलचंद सेठ ने सदा के लिये पपीता खाना त्याग दिया। इतना ही नहीं यदि पपीते बेचने वाला ठेला मार्ग में खड़ा होतो सेठ उस मार्ग को छोड़ कर अन्य मार्ग से जाता। ऐसा भय लग गया था फूलचंद सेठ को पपीते से।

मार्गानुसारी आत्मा को भी पाप से ऐसा ही भय होता है जिससे वह यथा सम्भव पाप करता ही नहीं।

दुःखों का मूल पाप है - उसे पहचानो -

पृथ्वी के समस्त जीव दु:खों से तो अवश्य ड्रते हैं। छोटी चींटी से लगाकर हाथी तक के समस्त जीव, देव, मनुष्य, तिर्यंच, नारकीय आदि सब दु:खों से अत्यन्त भयभीत होते हैं।

अत: इन समस्त जीवों को दु:खों के मूल कारण पाप से परिचित करा दिया जाये तो वे अनेक पापों से बच सकते हैं।

जिन्हें दु:ख नहीं चाहिये उन जीवों को पापों से ड्रना चाहिये क्योंकि दु:ख का मूल पाप है। यदि मूल-स्वरूप पाप नहीं किया जाये तो दु:ख भोगना नहीं पड़ेगा।

अत: निम्न श्लोक अवश्य कण्ठस्थं कर लेना चाहिये -

सुखं धर्मात् दु:खं पापात्, सर्वशास्त्रेषु संस्थिति:।

न कर्त्तव्यमत: पापं, कर्त्तव्यो धर्मसंचय:।।

अर्थ - सुख धर्म से ही आता है और दु:ख पाप से ही आता है, यह बात समस्त धर्म-शास्त्रों में बताई गई है। अत: पाप नहीं करना चाहिये और धर्म का संचय अवश्य करना चाहिये।

दु:खों एवं पापों का प्रगाढ़ सम्बन्ध यदि ज्ञात हो जाये तो अनेक पापों से बचा जा सकता है, परन्तु दु:ख की बात तो यह है कि अधिकतर लोग 'दु:खों का कारण पाप है' इस तथ्य से अनभिज्ञ होने के कारण जब जब जीवन में दु:ख आते हैं, तब तब उन्हें दूर करने के लिये वे अनेक उल्टे मार्ग ही अपनाते हैं और वे मार्ग प्राय: पाप-स्वरूप होते हैं। इस प्रकार दु:खों को दूर करने के लिये नवीन पाप और उनके फलस्वरूप नूतन दु:खों का विष चक्र चलता ही रहता है।

तो ... दुःख भी उपकारक बन जायें -

मनुष्य जानता है कि असत्य, हिंसा, चोरी आदि पाप कहलाते हैं परन्तु वर्तमान मानव प्राय: यह नहीं जानता कि ये समस्त पाप ही मेरे दु:खों के कारण हैं। यदि इस बात पर पूर्ण श्रद्धा हो जाये कि दु:ख पाप से ही आते हैं तो दु:खों से भयभीत होने के बदले मानव पापों से भयभीत होने लग जाये।

दु:खों का कारण हमारे स्वयं के ही पाप हैं - यदि यह बात अच्छी तरह समझ में आ जायेगी तो जब जब दु:ख आयेंगे तब तब उनके कारण के रूप में जगत् के अन्य मानवों के प्रति द्वेष अथवा धिक्कार उत्पन्न नहीं होगा, परन्तु 'यह तो मेरे ही पापों का फल है' - यह विचार करने का अवसर प्राप्त होगा। इससे एक प्रकार का आश्वासन प्राप्त होगा।

इसके अतिरिक्त दु:ख आने पर पापों से अधिकाधिक भयभीत होने की प्रेरणा प्राप्त होगी। इस प्रकार दु:ख भी हमारे लिये उपकारक बन जायेगा।

श्वान-वृत्ति नहीं, सिंह-वृत्ति अपनाओ-

समझदार व्यक्ति सदा कारण को ही महत्त्व प्रदान करता है। कुत्ते को यदि कोई व्यक्ति पत्थर लगाता है तो वह पत्थर को ही काटता है, परन्तु पत्थर लगाने वाले की ओर उसकी दृष्टि नहीं जाती।

जब सिंह को कोई व्यक्ति गोली लगता है तो वह गोली को नहीं काट कर गोली दागने वाले शिकारी पर क्रोधित होता है और अपना वैर निकालने के लिये वह शिकारी की ओर झपटता है।

इसी तरह से दु:खों से ड़रना अथवा घबराना श्वान-वृत्ति कहलाती है और दु:खों को लाने वाले पापों के प्रति क्रूर दृष्टि रखना और उन पापों को नष्ट करने के प्रयत्न करना सिंह वृत्ति है।

श्वान-वृत्ति त्याज्य है।

सिंह-वृत्ति उपादेय है।

शास्त्राकारों का कथन है कि जो केवल दु:खों से ही ड़रते रहते हैं वे 'अनार्य' हैं। आर्य कदापि दु:खों से कहीं ड़रते। वे तो दु:खों के कारण भूत पाप से ही ड़रते हैं।

इसलिये पूर्वोक्त बात की तरह आर्यावर्त के समस्त (उत्तम, मध्यम एवं अधम) मनुष्य पाप नहीं करते थे। वे सदा पाप-भीरु रहते थे।

कैसे आदर्श नृप ! -

कैसे ये आर्यावर्त के वे नृप? जो पुत्र के पापों का प्रायश्चित स्वयं करते थे।

राजा कूलराज का 110 वर्ष की आयु में देहान्त होने के पश्चात् उनका पुत्र योगराज राजा हुआ। वह सचमुच योगी के समान उत्तम नृप था।

उनके क्षेमराज आदि चार पुत्र थे।

एक दिन विदेश से कोई जहाज आया और लंगर डाले खड़ा था। क्षेमराज आदि चारों भाई वहाँ सायंकाल में भ्रमणार्थ गये, जहाँ उन्होंने उस जहाज में अनेक समृद्ध वस्तु देखीं। बहुमूल्य रत्न, कस्तूरी, तेजंतूरी आदि देखकर वे स्तब्ध रह गये।

यकायक उनके मस्तिष्क में विचार आया - ''अपने देश की जनता के लिये, प्रजा के कल्याण के लिये यह समस्त सम्पत्ति लूट ली जाये तो क्या आपत्ति है?''

उन चारों का यह निश्चय था कि लूटी हुई समस्त सम्पत्ति का प्रजा हितार्थ ही उपयोग किया जाये, अपने स्वयं के सुखोपभोग के लिये नहीं।

उन्होंने सोचा - पिताजी का क्या होगा? उन्हें यदि अनीति के इस धन की प्राप्ति की समाचार सात होगा तो उन्हें कैसा अघात लगेगा? अत: उन्होंने पिताजी को इस योजना के विषय में पूर्व से ही सूचित करने का निर्णय किया।

जब चारों पुत्रों ने सम्मिलित रूप से अपनी योजना से पिताजी को अवगत कराया तो

उनका चेहरा गम्भीर हो गया। उन्होंने कहा, ''पुत्रो! सर्वोत्तम कार्य भी निम्न कोटि के मार्ग से कदापि नहीं होता। प्रजा और देश के कल्याण के लिये भी विदेशी जहाज को लूटना सर्वथा अनुचित है। अन्याय एवं अनीति के मार्ग से प्रजा को सुखी करने का विचार भी तुम जैसे आर्य पुत्रों के लिये शोभनीय नहीं है। तुम लागों का यह विचार जान कर मुझे अपार दु:ख हुआ है।''

पिताजी के वचन सुनकर चारों पुत्र चुपचाप वहाँ से बाहर चल दिये, परन्तु पिता की बात का उन पर तनिक भी प्रभाव नहीं हुआ और अर्द्ध रात्रि के समय शस्त्रों से सुसज्जित होकर सैनिकों की सहायता से उन्होंने विदेशी जहाज पर आक्रमण कर दिया। उन्होंने जहाज का समस्त सामान लूट लिया।

प्रात: जब योगराज को अपने पुत्रों के इस दुष्कृत्य का पता लगा तब वे अत्यन्त आहत हुए और ऐसे पुत्रों के जन्मदाता पिता होने के कारण उन्होंने स्वयं को उक्त लूट का अपराधी माना। उसी दिन संध्या के समय चिता तैयार करा कर योगराज ने उसमें प्रवेश कर लिया। क्षेमराज आदि पुत्रों एवं सहस्रों नगर-निवासियों की करुण विनय को भी ठुकरा कर योगराज ने पुत्रों के पाप का प्रायश्चित किया।

इस प्रकार के पाप-भीरु एवं न्याय-निष्ठ थे इस आर्यावर्त के राजा।

आर्यावर्त के चोर भी पाप-भीरु थे

अरे! राजा ही केवल पाप-भीरु नहीं थे, आर्यावर्त के चोर भी पाप से डरते थे। भावनगर राज्य के विरुद्ध बागी बने बागी जोगीदास खुमाण की यह बात है। किसी बात पर उसके साथ राज्य की ओर से अन्याय हुआ था। अत: उसने भावनगर के राजा से न्याय प्राप्त करने का भरसक प्रयत्न किया, परन्तु दुर्भाग्यवश उसे न्याय प्राप्त नहीं हो सका और वह राज्य के विरुद्ध बागी हो गया। जोगीदास में आर्यत्व का अमीर था, अत: उसने अपने साथियों के लिये एवं स्वयं के लिये निम्न-लिखित नियम बनाये थे

किसी अबला को हम कदापि नहीं लूटेंगे।
किसी ब्राह्मण को हम नहीं सतायेंगे।
किसी कृषक को हम तंग नहीं करेंगे।
परस्त्री को माता और बहन के समान समझेंगे।

इस कारण ही जोगीदास अपने एक हाथ में पिस्तोल और दूसरे हाथ में माला रखता था। पिस्तोल भावनगर के राजा के साथ शत्रुता का बदला लेने के लिये थी और माला उसके आत्म-कल्याण की प्रतीक थी।

एक रात्रि में वह अपने खेमे में (तम्बू में) जाग रहा था। उसके समस्त साथी गहरी नींद में सो रहे थे। जोगीदास माला फिरा रहा था और भगवान का स्मरण कर रहा था। उसने अचानक किसी

युवती के नूपुर की झनकार सुनी। वह सावधान हो गया। इतने में तम्बू का पर्दा हटा कर एक युवती उसके समक्ष आकर खड़ी हो गई।

उसकी मुखाकृति एवं हाव-भाव आदि देखकर जोगीदास उसकी काम-वासना ताड़ गया, परन्तु उसके लिये तो परस्त्री माता एवं बहन तुल्य थीं।

जोगीदास ने उस युवती को पूछा, ''बहन! तू कौन है?''

वह बोली, ''मुझे आप बहन मत कहिये। आपका शौर्य देख कर मैं आप पर मुग्ध हूँ। मैं आपकी प्रियतमा बनने के उद्देश्य से आपके पास आई हूँ।''

''बहन! तू यह मत भूल कि मुझमें जिस प्रकार शौर्य है, उसी प्रकार से अत्यन्त पवित्रता भी विद्यमान है। प्रतीत होता है कि तूने मेरा शौर्य नहीं देखा। जा, चली जा यहाँ से। मेरे एक हाथ में पिस्तोल है और दूसरे हाथ में माला है। तुझे ग्रहण करने के लिये मेरा एक भी हाथ रिक्त नहीं है'' जोगीदास ने कहा।

''मुझे कहीं भी समाविष्ट कर लीजिये। आप मुझे अपनी बन्दूक बना लीजिये अथवा माला बना दीजिये, परन्तु मैं अब यहाँ से लौटने वाली नहीं हूँ'' युवती ने कहा।

''अरे, ए मूर्ख नारी! यह जोगीदास खुमाण है। बागी है परन्तु दुराचारी नहीं है। मुझे अपना भी परलोक दृष्टिगोचर होता है। जा, समझ कर लौट जा, अन्यथा मुझे खींच कर बाहर निकालनी पड़ेगी।''

फिर भी जब वह युवती वहाँ से नहीं गई तो जोगीदास ने अपने एक साथी के द्वारा उसे बाहर निकलवा दी। ऐसे पाप-भीरु एवं सदाचार प्रेमी थे आर्यवर्त के चोर और बागी।

आज तो साहुकारों के भेष में जीवन यापन करते श्वेत वस्त्रधारी तथाकथित सज्जन इस प्रकार के जघन्य पाप करते हैं कि जिनका वर्णन करने में हम काँपने लगते हैं।

वर्तमान मानव स्वार्थी ही नहीं, स्वार्थान्ध हो गया है। अपने व्यक्तिगत सुखों, मौज एवं विषय-वासना के लिये अनेक नारियाँ अपने उदर से उत्पन्न होनेवाले बालक की हत्या तक कर डालती हैं और उसे गर्भपात का रूपहरा नाम दे देती हैं।

गर्भपात में भी कैसी क्रूरता?

मुझे स्मरण हुआ है उस पल्लवी का! जिसके उदर में सात माह का गर्भ था और उसकी इच्छा गर्भपात कराने की हुई। डाक्टरों एवं परिवारजनों ने इन्कार कर दिया कि, ''अब गर्भपात नहीं हो सकता क्योंकि गर्भ बड़ा हो गया है।''

परन्तु पल्लवी नहीं मानी। धन का प्रलोभन देकर उसने एक डाक्टर से बात करके गर्भपात की औषधियाँ खाना प्रारम्भ कर दिया। औषधि की उग्र मात्रा लेने पर भी उदर में बालक की मृत्यु तो नहीं हुई, परन्तु वह उदर में अत्यन्त सन्तप्त होने लगा। और एक दिन माँस-पिण्ड के समान वह

बालक बाहर निकल आया। उसके मुँह से अत्यन्त करुण धीमी धीमी चीख निकलती हुई सुनाई दे रही थी।

अन्त में घर में बर्तन साफ करने वाली स्त्री ने अन्तिम साँस लेते हुए उस गर्भ से निकले माँस-पिण्ड़ को खिड़की में से बाहर गटर में फैंक दिया।

कितनी भयावह है यह सत्य घटना। अपने स्वार्थवश अपने उदरस्थ बालक की क्रूरतापूर्वक हत्या कर देने वाले मनुष्य वर्तमान प्रशासन की दृष्टि में अपराधी नहीं माने जाते। उच्च कुल के कुलीन माने जाने वाले अनेकधनी परिवारों की ऐसी नीचता पूर्ण जीवन-कथाएँ है।

पाप को पाप के रूप में स्वीकार करो

दुःखदायक बात तो यह है कि गर्भपात, तलाक, परिवार नियोजन के साधनों के दुरुपयोग आदि को तो वर्तमान समाज ने पाप मानने से ही इनकार कर दिया है।

एक व्यक्ति करता है अतः दूसरा करता है, तीसरा करता है, इस प्रकार सम्पूर्ण समाज में इस प्रकार के पापों का प्रचार होता रहा और परिणाम यह हुआ कि *'सब करते हैं, अतः यह पाप थोड़े ही कहलायेगा?'* यह वृत्ति व्यापक होने लगी। सचमुच यह एक हृदय विदारक घटना है।

पाप का कदाचित् जीवन में से पूर्णतः त्याग नहीं किया जा सके तो भी पाप को पाप के रूप में स्वीकार तो करो। यदि पाप को पाप के रूप में स्वीकार करोगे तो उससे भय जीवित रहेगा और आज नहीं तो कल, जीवन में से पाप अवश्य बिदा लेगा।

परन्तु पाप को पाप के रूप में स्वीकार नहीं करना तो मिथ्यात्व है। इसके समान अन्य कोई पाप नहीं है।

पापों को पाप के रूप में स्वीकार करना, पाप-त्याग के मार्ग का प्रथम सोपान है। सम्यग्-दर्शन का बीज भी यही है। पापों को पाप के रूप में स्वीकार करने पर ही उनसे भय (भीरुता) उत्पन्न होता है।

पाप से किस प्रकार का भय होना चाहिये, उसके लिये शास्त्रों में अनेक प्रसंग एवं दृष्टांत आते हैं।

अत्यन्त पाप-भीरु सुलस

सुलस कालसौकरिक नामक कसाई (वधिक) का पुत्र था। वह नित्य पाँच सौ भैंसे मारता था और इस घोर पाप के फलस्वरूप मरणोपरान्त सातवी नरक में गया।

कुत्ते से भी अधिक दुःखद अपने पिता की मृत्यु को सुलस स्वयं देख चुका था। वह अत्यन्त पाप-भीरु सज्जन था। पूर्व जन्म के किसी प्रबल पापोदय से उसका जन्म कालसौकरिक जैसे कसाई के घर में हुआ था।

पिता की मृत्यु के पश्चात् एकत्रित समस्त परिवार ने सुलस को अपने पिता का धंधा सम्हालने के लिये परामर्श दिया, तब उसने उन्हें स्पष्ट इनकार कर दिया। यही बात बार बार कहने पर सुलसने अन्त में परिवार जनों को स्पष्ट कह दिया, ''मैं पिता के कुँए में डूब मरना नहीं चाहता।''

सब स्वजनों ने सम्मिलित होकर कहा, ''सुलस! यदि तू यह मानता हो कि तेरे पिता का धंधा पाप का था और उस पाप का कल तुझे भोगना पड़ेगा, तो हम तुझे वचन देते हैं कि पाप का फल भोगने में हम सब तेरे भागीदार होंगे, फिर तुझे क्या आपत्ति है?''

इस प्रश्न का कुछ भी उत्तर दिये बिना वह तुरन्त भीतर के कक्ष में गया और तक तीव्र नोकवाला भाला ले आया। सबके देखते ही देखते उसकी तीव्र नोक उसने अपने पाँव में घुसेड़ दी। भाले की नोक पाँव के आर पार हो गई। वह जोर जोर से चीखने लगा, ''अरे, बचाओ, बचाओ, कोई तो मेरी इस पीड़ा के भागीदार बनो।''

तब सब बोल उठे, ''सुलस! भाला तेरे पाँव में घुसे और उसका दु:ख हम लें। यह कैसे संभव है? यह दु:ख तो तुझे ही भोगना पड़ेगा।''

तब हँसी का ठहा का मारते हुए सुलस ने कहा, ''यदि भाला लगने के दु:ख में आप मेरे भागीदार नहीं हो सकते, तो फिर मेरे पिता के पाप धंधे से मुझे लगने वाले पापों के फलस्वरूप जो दु:ख मुझे भोगने पड़ेंगे, उनमें आप भागीदार कैसे हो सकेंगे? इस कारण ही मैं अपने पिता का धंधा नहीं करना चाहता।''

कीचड़ में उगे हुए कमल के समान पापी कालसौकरिक के पुत्र के रूप में उत्पन्न पुण्यात्मा सुलस की यह कैसी उत्तम पाप भीरुता है।

चंद्रयश नृप की पाप-भीरुता

मुझे स्मरण हो आया है उन चंद्रयश नृपका, जिन्होंने प्रतिज्ञा-भंग करने का पाप करने के बदले अपने जीवन को अन्त करना स्वीकार किया।

प्रथम तीर्थंकर भगवान श्री आदिनाथ के वे पोते थे। उन्हें धर्म अत्यन्त प्रिय था। वे जो भी प्रण करते उसे प्राण देकर भी पूर्ण करते। उनके प्राण-पालन की अटलता की ख्याति देवलोक में भी पहुँच चुकी थी। उनके प्राण-पालन की स्वयं इन्द्र ने भी अत्यन्त प्रशंसा की थी।

इस पर दो देवियों की महाराजा चंद्रयशा के प्राण-पालन की दृढ़ता की परीक्षा लेने की इच्छा हुई। उन दोनों ने मनुष्य लोक की अत्यन्त सुन्दर स्त्रियों का रूप धारण किया और वे राजा की नगरी में आई।

उस समय चंद्रयश नृप जिन-भक्ति में लीन थे। वे दोनों देवियों वहाँ पहुँच गई और परमात्मा की अत्यन्त भक्ति करने का ढ़ोंग करती हुई जिन-पूजा आदि करने लगी। राजा दोनों रमणियों का रूप एवं उनकी जिन-भक्ति देखकर मोहित हो गया और उन्होंने उन दोनों के समक्ष

विवाह का प्रस्ताव रखा। तब उन दोनों रूपवती रमणियों ने शर्त रखी, ''हम जो कहें वही आपको करना होगा, तो ही हम आपके साथ विवाह कर सकती है।''

उन पर आसक्त नृप ने उनकी यह शर्त स्वीकार कर ली। कुछ दिनों के पश्चात् चतुर्दशी का दिन आया। प्रत्येक चतुर्दशी को पौषध व्रत की आराधना करने का राजा का प्रण था। एक दिन पूर्व चन्द्रयश नृप ने अपने प्रण के सम्बन्ध में उन दोनों नव-परिणीत स्त्रियों से कहा। तब उन दोनों ने उन्हें पौषध लेने का इनकार कर दिया, ''हम आपके बिना नहीं रह सकती, अत: आप पौषध नहीं करें।''

राजा ने कहा, ''मेरे तो चतुर्दशी को पौषध करने का प्रण है, जिसका भंग में कदापि नहीं कर सकता।''

''आपको पौषध नहीं करना, हमने आपको स्पष्ट कह दिया है,'' उन रमणियों ने जोर देकर कहा।

चन्द्रयश नृप ने कहा, ''परन्तु मेरे प्रण का क्या होगा? क्या मैं प्रण भंग करूं? तो तो मेरी जन्म-जन्मान्तर में भी मुक्ति नहीं होगी। मैं प्रण-भंग तो कदापि नहीं कर सकता।''

तब वे देवियें बोली, ''स्वामी! आप प्रण-भंग नहीं कर सकते तो क्या वचन-भंग करने के लिये तैयार हैं? आप स्मरण करिये कि विवाह के समय आपने हमें वचन दिया था कि ''तुम जैसा कहोगी वैसा मैं करूंगा।'' अब आप उस वचन को भंग करने के लिये तत्पर हुए हैं?''

नव-विवाहिता रमणियों की बात सुनकर नृप व्याकुल हो गये। अब क्या किया जाये? एक ओर तो प्रण-भंग होता है और यदि प्रण की रक्षा करें तो वचन का भंग होता है।

राजा ने दोनों रमणियों को समझाने का भरसक प्रयास किया परन्तु निष्फल।

अन्त में राजा ने निश्चय किया, ''यदि मैं जीवित रहता हूँ तो प्रण-भंग अथवा वचन-भंग का अवसर आयेगा न? अत: मैं आज जीवन का ही भंग कर दूं ताकि मेरा प्रण भी सुरक्षित रहेगा और वचन भी सुरक्षित रहेगा। अन्यथा प्रण अथवा वचन एक का भी भंग नहीं किया जा सकता।''

और तत्क्षण चन्द्रयश नृप ने कमर में से कटार निकाल कर अपनी गर्दन में घुसेड़ दी।

परन्तु यह क्या? राजा की मृत्यु क्यों नहीं हुई। दूसरी बार, तीसरी बार, इसी प्रकार से गर्दन पर कटार का प्रहार किया फिर भी राजा की मृत्यु नहीं हुई।

तब उसी समय वे दोनों देवियाँ अपने मूल स्वरूप में प्रकट होकर नृप को कहने लगी, ''राजन्! आपकी परीक्षा करने के लिये ही हमने यह सब नाटक किया था। प्रण-पालन में आपकी अद्भुत दृढ़ता देखकर हम सचमुच अत्यन्त प्रसन्न हुई हैं।''

राजा को भाव-सहित प्रणाम करके वे दोनों देवी वहाँ से बिदा हो गई।

कैसी वन्दनीय है चन्द्रयश नृप की पाप भीरुता! जिन्होंने प्राण-भंग का पाप करने के बदले मृत्यु को गले लगाना उचित समझा।

पाप-भीरु बनने के लिये परलोक-दृष्टि प्राप्त करो

यदि हम भी पाप-भीरु होना चाहते हो तो हमारी दृष्टि केवल इस लोक की ओर ही नहीं, परन्तु सतत परलोक की ओर रखनी पड़ेगी।

जो व्यक्ति परलोक को मानते हैं, इतना ही नहीं जो निरन्तर 'परलोक में मेरा क्या होगा?' इस विचार को ही प्रधानता देते हैं, वे पाप-भीरु हुए बिना नहीं रहते।

आजकल अधिकतर मनुष्यों की तो परलोक के प्रतिश्रद्धा ही नहीं है और जिन कुछ मनुष्यों को परलोक के प्रति श्रद्धा है, उनकी दृष्टि भी निरन्तर परलोक की ओर नहीं रहती। इस लोक के सुख का आकर्षण इतना प्रबल है कि अच्छे-अच्छे धर्मात्माओं को भी कुछ समय के लिये परलोक भुला देता है और उन्हें पापाचरण में प्रवृत्त कर देता है।

परन्तु यदि जीवन में परलोक-दृष्टि को गूंथ ली जाये तो कदाचित् पाप करने पड़े तो भी उन्हें करते समय आत्मा काँप उठेगी।

कदाचित् पापाचरण होता रहे तो भी यदि पाप के प्रति भय भी साथ ही रहेगा, तो एक धन्य क्षण ऐसा भी आ जायेगा, जब सदा के लिये पापाचरण छूट जायेगा।

पाप के प्रति भय, पाप के प्रति धिक्कार, घृणा पापों को हटाने का सर्वोत्तम उपाय है।

जर्मनों का अमोध शस्त्र-धिक्कार

सन् 1914 ई. में जर्मनों को अंग्रेजों की शरण में जाने के लिये विवश होना पड़ा था। उस समय जर्मनों ने अंग्रेजों को कहा था कि, ''आपने हमारे अस्त्रों, शस्त्रों, स्टीमरों आदि पर अधिकार कर लिया है, परन्तु आप यह स्मरण रखना कि एक दिन हम आप पर अवश्य ही विजयी होगे।''

अंग्रेजो ने पूछा, ''किस प्रकार?''

तब उन्होंने उत्तर दिया, ''हमारे पास अब भी एक शस्त्र सुरक्षित है, जिसे लाख प्रयत्न करके भी आप हमसे छीन नहीं सकेंगे। उस भयंकर शस्त्र को ज्यों ज्यों आप अपने अधिकार में करने का प्रयास करोगे, त्यों त्यों वह शस्त्र आपके हाथ में न आकर उल्टा अधिकाधिक तीक्ष्ण होता जायेगा।

तब कौतुहलवश अंग्रेजों ने पूछा, ''आपके उस शस्त्र का नाम क्या है, यह तो बताओ।''

जर्मनों ने उत्तर दिया, ''उस शस्त्र का नाम है, आपके प्रति हमारी धिक्कार भावना। जब तक हमारी धिक्कार भावना आपके प्रति है तब तक हम जीवित हैं। हम पुन: उठ बैठेंगे, सज्ज होंगे और आपको अवश्य पराजित करके ही दम लेंगे।''

पराजित जर्मन लोगों का अमर देश-प्रेम देख कर अंग्रेज नत-मस्तक हो गये।

बस, इसी बात को आध्यात्मिक क्षेत्र में भी घटित करने की आवश्यकता है। जब तक

पापों के प्रति धिक्कार भावना जीवित है तब तब भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है। पाप के प्रति धिक्कार ही एक बार हमें पाप-नाश करने की शक्ति प्रदान करेगी।

धर्म के समस्त शास्त्र छिन जाने पर भी यदि पापों के प्रति धिक्कार की भावना जीवित रहेगी तो वह आत्मा एक बार धर्म-प्रसंग की इस रण-भूमि में अवश्य ही विजयी होगी।

पापों की जननी, पाप-निर्भीकता

अत: हम कह सकते हैं कि समस्त धर्मों की जननी पाप भीरुता है और समस्त पापों की जननी है - पाप निर्भीकता।

हिंसा, झूठ, चोरी आदि समस्त पापों को यदि दीमक की उपमा दी जाये तो पाप-निर्भीकता को दीमक की महारानी अवश्य कह सकते हैं।

यदि धर्म का प्रारम्भ पाप-भीरुता से होता है तो समस्त पापों का प्रारम्भ पाप-निर्भीकता से होता है, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है।

हिंसा आदि पाप निश्चित रूप से बुरे हैं जिनसे आत्मा के सद्गुण नष्ट होते हैं, जीव की भयंकर दुर्गति होती है, परन्तु यह हिंसा, असत्य आदि पाप तो पच्चीस-पचास दीमकों के समान हैं। जीवन के ऐसे कुछ पाप नष्ट किये जायें उनसे पूण-विराम मान लेने की आवश्यकता नहीं है।

यदि 'पाप-निर्भीकता' रूपी दीमकों की महारानी, सम्राज्ञी जीवित रहे तो समझ लेना चाहिये कि नूतन-नूतन दीमकों की उत्पत्ति होती ही रहेगी।

अत: सर्व प्रथम तो 'पाप-निर्भीकता' रूपी दीमकों की महारानी को ही समाप्त करनी चाहिये, अर्थात् पाप-निर्भीकता को आत्मा में से निष्कासित करके पापों से ड़रना चाहिये, पापों की परछाई से भी सौ कोस दूर रहना चाहिये।

यदि इस प्रकार की पाप-भीरुता उत्पन्न होगी तो कदाचित् जीवन में से समस्त पाप नष्ट नहीं होंगे, तो भी मुक्त होने का बहुत बड़ा सुअवसर जीवित रहेगा।

पाप-भीरुता विहीन चाहे जितने धर्म एकत्रित होकर भी हमारा इस भव-भ्रमण से उद्धार नहीं कर सकते, यह बातें समझ लेने योग्य है।

पापों से बचने के लिये निमित्तों से दूर रहें

प्रश्न - पापों से बचने के लिये क्या करना चाहिये? क्या उसके लिये कोई सरल एवं श्रेष्ठ उपाय है?

उत्तर - हाँ, अवश्य है, पापों से बचने का सर्व श्रेष्ठ एवं सुन्दर उपाय है कि पापों के निमित्तों से सदा दूर रहना।

उस पपीते से भयभीत फूलचन्द सेठ को पपीते से कैसा भय लगता था? पपीतों का ठेला

देखकर वे उस मार्ग को छोड़कर अन्य मार्ग से जाते थे।

निमित्तों से दूर रहना पाप से बचने का उत्तम उपाय है।

अच्छी अच्छी मिठाइयाँ एवं मेवे आदि खाने से रसना (जीभ) के राग में अत्यन्त वृद्धि होती हो तो मेवे-मिठाइयाँ को खाना ही बन्द कर देना चाहिये।

कुत्सित एवं अश्लील साहित्य के पठन से मन में विकार उत्पन्न होते हों तो उस प्रकार के साहित्य को पढ़ना ही नहीं चाहिये। विकारों से बचने का सही श्रेष्ठ उपाय है।

यह तो एक उदाहरण मात्र है। विकारों का कारण केवल अश्लील साहित्य ही नहीं है, बुरे मित्रों की संगति, सेक्स सम्बन्धी फिल्में, स्त्रियों से अधिक परिचय, मिष्टान्न भोजन, रात्रि भोजन आदि अनेक कारण हैं संक्षेप में विकार के जो जो निमित्त हो, उन सबका परित्याग करना ही विकारों से बचने का उत्तम उपाय है।

ब्रह्मचर्य पालन के अभिलाषी व्यक्ति को विकार के निमित्तों का परित्याग कर देना चाहिये, ताकि उसके लिये ब्रह्मचर्य का पालन सरल हो जाये।

यही बात समस्त पापों के लिये लागू करनी चाहिये। जिन जिन पापों से बचने की हमारी इच्छा हो, उन उन पापों में जो जो कारण, निमित्त हों, उन सबसे दूर रहने का निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये।

जो व्यक्ति निमित्तों से दूर रहता है, वह प्राय: पाप से बचे बिना नहीं रहता और जो व्यक्ति निमित्तों के समीप जाता है वह प्राय: पापों से लिप्त हुए बिना नहीं रहता।

उसी भव में मोक्ष प्राप्त करने वाले रहनेमि जैसे भी गुफा में वर्षा से भीगी हुई साध्वी राजिमती को देखकर क्या विकारी नहीं हुए थे? वे तो सचमुच महात्मा थे, जिससे राजिमती के बोध-वचन श्रवणकर पुन: विरक्त हुए और श्री नेमिनाथ भगवान के पास जाकर उन्होंने उस पाप का प्रायश्चित कर लिया।

भीगी हुई राजिमती का दर्शन रूपी निमित्त ही रहनेमि के पतनका कारण बना।

रूपकोशा के दर्शन रूपी निमित्त से ही सिंह-गुफा-निवासी मुनि मन से पतित हो गये थे न? और उसके कहने से वे चातुर्मास की विराधना की भी पर्वाह किये बिना रत्न-कम्बल लेने के लिये नेपाल की ओर प्रयाण कर गये थे। यह तो रूपकोशा ने अपनी कुशलता से मुनि को पतित होने से बचा लिया।

नंदिषेण जैसे महात्मा भी वेश्या के घर रूपी निमित्त के समीप जाने से ही पतित हुए।

यदि ऐसे ऐसे महान् आत्माओं के लिये भी निमित्त पतन का कारण हो जाता है, तो हम जैसे सामान्य मनुष्यों की तो शक्ति ही क्या है?

इस कारण ही निष्पाप बने रहने की तमन्ना वाले पुण्यात्माओं को पापों से बचने के लिये

शास्त्रकारों ने निमित्तों से दूर रहने का विधान किया है।

लघु पापों से भी ड़रते रहे

दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि जिस प्रकार दीर्घ पापों से सचेत रहना चाहिये, उसी प्रकार लघु पापों से भी इतना ही ड़रना चाहिये।

जो व्यक्ति लघु पापों को गौण मानकर उनकी उपेक्षा करते हैं, तो प्राय: भारी पाप करनेवाले बने बिना नहीं रहते।

नौका में पड़े छोटे छिद्र की भी यदि उपेक्षा की जाये तो वह सम्पूर्ण नौका को डुबा देता है।

तनिक क्रोध करने से क्या हुआ?

तनिक काम-राग से उस स्त्री को देखने से क्या अपराध हुआ? तनिक अभिमान करने से कौनसा पहाड़ टूट पड़ा?

आत्म-कल्याणार्थी व्यक्ति के लिये इस प्रकार के विचार अवश्य घातक हैं। स्मरण रहे कि छोटे से घाव की उपेक्षा करें तो वह अत्यन्त बड़े गुमड़े का रूप धारण करके प्राणघातक भी हो सकता है और छोटी सी आग की चिनगारी समस्त नगरी को जला देने में समर्थ है।

नीतिशास्त्र का कथन है कि, ''उगते शत्रु और उगते रोग को तुरन्त दबा देना चाहिये,'' इसका अर्थ यह है कि शत्रु को छोटा अथवा निर्बल समझ कर उसकी उपेक्षा नहीं की जाती। रोग अल्प हो तो भी उसके प्रति असावधानी नहीं रखी जाती।

इसी प्रकार से जब जब लघु पाप जीवन में प्रविष्ट हो रहा हो, तब ही यदि उसे दबा दिया जाये तो दीर्घ पाप जीवन को दूषित नहीं कर सकता।

ज्वर यदि थोड़ा थोड़ा चढ़ता हो और उसकी उपेक्षा की जाये तो वह जीर्ण ज्वर देह में घर करके समस्त देह का स्वास्थ्य नष्ट करने में समर्थ हो जाता है।

अल्प पाप भी भयंकर है

इस कारण ही अल्प और लघु समझ कर उसकी उपेक्षा नहीं होती। सत्य बात तो यह है कि 'अल्प' होने के कारण ही उसके प्रति हमें अधिक गम्भीर हो जाना चाहिये।

मन का पाप सामान्यत: भयंकर नहीं माना जाता। उसका प्रायश्चित भी अल्प होता है, फिर भी महाराजा कुमारपाल ने मन के पाप को अल्प और लघु नहीं मानकर उसे ही भयंकर माना और इस कारण उन्होंने अभिग्रह लिया कि यदि मुझसे मनसे कोई पाप हो जाये तो मैं उपवास करूँगा और यदि वही पाप देह से हो जाये तो प्रायश्चित के रूप में एकासणा (एक समय भोजन) करूँगा।

उनके ऐसा करने का कारण यह है कि वे जानते थे कि मन का अल्प अथवा लघु माना जाने वाला पाप ही जब उपेक्षित होता है तब उसमें से देह का 'दीर्घ' पाप उत्पन्न हो जाता है। अत: जब पाप

लघु हो तब ही उसका कठोर दण्ड स्वीकार कर लिया जाये तो वह दीर्घ होगा ही नहीं।

भूमि को चीरने के लिये लघु बीज ही समर्थ है। यह काम कोई भव्य, विशाल बरगद का वृक्ष नहीं कर सकता।

इस प्रकार पापों से भयभीत रहने का, पाप-भीरु होने का प्रथम उपाय यह है कि हमें नित्य यह चिन्तन करना चाहिये कि हमारे समस्त दुःखों का मूल पाप ही है, अतः हमें पाप नहीं करना चाहिये।

पापों का भय उत्पन्न होने के पश्चात् पापों से बचने के उपाय हैं - 1. पाप के निमित्तों से दूर रहना और 2. लघु पापों से निरन्तर सचेत रहना।

पाँचवा गुण

उचित स्थिति जो सेवे सदा

प्रसिद्धं च, देशाचारं समाचरन्।

(प्रसिद्ध देशाचार-पालन)

उन उन देशों के प्रसिद्ध आचारों का पालन करना अत्यन्त महत्वपूर्ण गुण है।

शिष्ट-पुरुषों द्वारा आचरित तथा सैकड़ों वर्षों की परम्परा से रूढ़ बने हुए प्रसिद्ध आचारों के पालन से हमारी आत्मा प्राय: निर्मल एवं निर्विकार हो जाती है।

'जो पुराना है वह सोना है' इस विचारधारा की भारी हँसी उड़ाने वाला वर्तमान तथाकथित सुधारक-समाज सचमुच कैसा हानिकारक है, जिसकी आलोचना गाँधीजी ने 'हिन्द-स्वराज्य' नामक पुस्तक में की है।

स्त्री को परतन्त्र रखने के पीछे भारतीय संस्कृति का कैसा उत्तम आशय था? 'डेरियों' के दूध एवं गायों की वर्तमान समय में कैसी दुर्दशा हुई है? आयुर्वेद-विज्ञान को नष्ट करके हमने क्या लाभ उठाया?

इन समस्त प्रश्नों के वैध उत्तरों से युक्त इस गुण के विवेचन में आर्य परम्परा के प्रसिद्ध आचारों के पालन की आवश्यकता के सम्बन्ध में भी सुन्दर बातों का समावेश किया गया है। आप इसका पठन एवं मनन अवश्य करें।

मार्गानुसारी आत्मा का पाँचवा गुण है - प्रसिद्ध देशाचार पालन।

मार्गानुसारी के गुणों में पाँचवा गुण है - प्रसिद्ध देशाचार-पालन

आर्यावर्त के शिष्ट पुरुषों द्वारा आचरित, मान्य एवं परम्परागत रूढ़ि से चले आ रहे उन उन देशों के प्रसिद्ध आचारों का पालन करना मार्गानुसारिता का गुण है।

प्रसिद्ध आचार-पालन के पीछे दो शक्तियाँ

इन आचारों के पालन के पीछे दो महान् शक्तियाँ हैं। एक तो येआचार शिष्ट-जनों द्वारा सेवित होते हैं और दूसरी ये दीर्घकाल की रूढि से सुदृढ बने हुए होते हैं। इस कारण ही ये हमारे अत्यन्त हितकारी होते हैं।

उत्तम आचारों का ही शिष्ट पुरुष आचरण करते हैं - यह स्पष्ट बात है। तदुपरान्त ये आचार उत्तम है, प्रजा के लिये हितकारी हों, तब ही लाखों वर्षों में हुए अनेक आक्रमणों के सामने ये अबाध रूप से अपना अस्तित्व बनाए रखने में समर्थ हुए हैं।

इस प्रकार ये प्रसिद्ध देशाचार हम सबके लिये अत्यन्त आदरणीय एवं सम्माननीय हो जाते हैं।

परन्तु आजकल एक धुन सवार हुई है - कुछ नवीन करो, प्राचीन है उसे तोड़ डालो और फिर चाहे नवीन आचार हमारा अहित, अकल्याण करने वाले हों तो भी उनको अपनाओ।

नवीन कार्य करने के धुनी व्यक्ति प्राय: सस्ता यश अर्जित करने के लिये ही ऐसा करते हैं। 'Old is gold' पुराना है वह सोना है, इस कहावत की वे जोरदार खिल्ली उड़ाते हैं। यह कहावत सदा एवं सर्वत्र आदरणीय ही हो, ऐसी बात नहीं है, परन्तु 'पुराना है वह सब व्यर्थ (निरर्थक) है' - यह विचारधारा भी सर्वत्र सम्माननीय नहीं है, यह हमें समझ लेना चाहिये।

सुबुद्धि की दूरदर्शिता

प्रस्तुत है एक सुन्दर दृष्टान्त -

रामपुर नामक ग्राम में रामजी भाई की सरपंच के रूप में नियुक्ति हुई। सरपंच होने के पश्चात उन्हें नित्य कुछ न कुछ नवीन कार्य करने की धुन लगी रहती। चाहे उनके नवीन कार्य से लोगों को लाभ हो अथवा हानि यह सोचने की उनमें दूर-दर्शिता नहीं थी। परन्तु उनकी पुत्री सुबुद्धि सचमुच बुद्धिमान थी। यथा नाम तथा गुण के अनुसार उसमें बचपन से ही उत्तम बुद्धि थी।

एक दिन रामजी भाई के परम मित्र पदमशी भाई उनके घर आये। उन्होंने सुबुद्धि को पूछा, ''बेटी! तेरे पिताजी कहाँ गये हैं?'' सुबुद्धि ने उत्तर दिया, ''वे मूर्खता करने गये हैं।''

सुबुद्धि का उत्तर सुनकर पदमशी भाई विचार में पड़ गये। उन्होंने उसे पूछा, ''तू ऐसा क्यों कहती है? मैं कुछ समझा नहीं।''

तब सुबुद्धि बोली, ''बात यह है कि मेरे पिताजी गत वर्ष सरपंच बने हैं तब से उनके मन में गाँव में कुछ न कुछ नवीन कार्य कर बताने की धुन सवार रहती है। हमारे गाँव के बाहर वर्षों से एक

बड़ा रास्ता बना हुआ है। लोगों के जाने के लिये यह संक्षिप्त मार्ग है, परन्तु मेरे पिताजी नवीन कार्य करने की बुद्धि-विहीन धुन में उस बड़े रास्तो को बंद करके नवीन रास्ता खोलने के लिये गये हैं। मेरा विश्वास है कि पुराना मार्ग बन्द करने से लोगों को अपार कष्ट होगा और नया मार्ग नहीं बन पायेगा, क्योंकि मार्ग बनाने में अनेक वर्ष व्यतीत हो जाते हैं। यह पिताजी की मूर्खता नहीं हो और क्या है?''

पदमशी भाई सुबुद्धि की दूरदर्शिता देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए।

पुराना होने मात्र से वह तोड़ा नहीं जा सकता

वर्तमान काल के अनेक डिग्रीधारियों एवं बुद्धिजीवियों को प्राचीन परम्परा के मूल्यों के प्रति अत्यन्त तिरस्कार होता है। प्राचीन रूढियों की तो वे निन्दा ही करते रहते हैं। पता नहीं उन्हें पाश्चात्य शिक्षा का कैसा विष पिला दिया गया है, कुछ समझ में नहीं आता।

अपार कठिनाइयों के मध्य, आँधियों और तूफानों के मध्य भी जो परम्पराएँ, जो मूल्य और जो रूढियाँ अविच्छिन्न रही हैं, जो अखण्ड रूप से स्थिर रही हैं, वे निश्चित रूप से जनता का हित कर सकती हैं। उन मूल्यों और रूढियों को पुरानी होने के कारण ही तोड़ डालने की चेष्टा कैसे की जा सकती है? उससे तो अत्यन्त अनर्थ हो जायेगा।

यदि 'पुराना' होना अपराध हो तो आज नवीन माने जानेवाले मूल्य, संशोधन एवं योजनाऐं कल पुरानी होने वाली ही है, तो फिर क्या वे भी समाप्त कर देने योग्य ही मानी जायेंगी?

जिसकी जड़ें अत्यन्त गहरी चली गई हैं उस आम के वृक्ष को उखाड़ फैंकने से तो न तो किसी को आम खाने को मिलेंगे और न किसी को वृक्ष की छाया ही मिलेगी।

आजकल पुराने वृक्षों को काट कर बड़े-बड़े जंगल साफ किये जाते हैं और दूसरी ओर 'वृक्षारोपण सप्ताह' मनाये जाते हैं। वृक्षारोपण करते हुए मुख्य मंत्रियों के चित्र समाचार-पत्रों आदि में छपते है, यह सब मूर्खता नहीं तो और क्या है?

महात्मा गाँधी के वचन

गाँधीजी ने परम्परागत मूल्यों के लिये सम्मान-सूचक जो वचन 'हिन्द-स्वराज्य' पुस्तक में कहे हैं वे पठनीय हैं। उन्होंने कहा है कि, ''हमारी परम्परागत मूल्यों की सम्पत्ति में तनिक भी संशोधन-परिवर्द्धन मत करना, क्योंकि हमारे वे मूल्य नीति एवं इन्द्रिय निग्रह पर खड़े हुए हैं। वर्तमान तथाकथित सुधार नीति एवं निग्रह विहीन हैं। ऐसे सुधारों को तो मैं सौ सौ काले नागों से परिपूर्ण टोकरी मानता हूँ।''

इसी सन्दर्भ में उन्होंने एक अन्य स्थान पर लिखा है कि, वर्तमान सुधारों से कोई लाभ भले ही हुआ हो, परन्तु इतने से ही मैं उन्हें श्रेष्ठ नहीं कहूँगा, क्योंकि अनेक हानियाँ भी होती हैं। अत: ये सुधार कथाओं में वर्णित मणिधर नाग के समान हैं जो मणि के कारण सुन्दर प्रतीत होते हुए भी विष के कारण घातक है।

गाँधीजी के वे विचार वर्तमान सुधारकों और तथाकथित गाँधी-भक्तों के लिये विशेष रूप से मनन करने योग्य हैं। गाँधीजी के विचारों का सर्वाधिक नाश तथाकथित गाँधी वादियों ने ही किया है, यह कहा जाये तो भी अतिशयोक्ति नहीं होगी।

दृढ़ रूढियों का आदर होना चाहिये

भाँति-भाँति के आधुनिक प्रयोग करके हमें देश की जनता को हानि पहुँचाने का कार्य कदापि नहीं करना चाहिये। अनेक आयुर्वेदिक औषधियों को जिस प्रकार बार बार पुट देकर प्रभावशाली बनाई जाती हैं, उसी प्रकार से अनेक रूढियाँ एवं परम्पराऐं जो भारतीय प्रजा-जनों का अत्यन्त हित करनेवाली हैं शिष्ट-जनों द्वारा आचरित होकर, पुट दिये जाकर दृढ़ बनी हुई होती हैं। उन रूढियों के लिये तो हमारे हृदय में सम्मान होना चाहिये, उनके प्रति तो बहुमान जाग्रत होना चाहिये, उनके लिये तो हमें गौरव अनुभव करना चाहिये। इसके बदले अनेक बुद्धिजीवियों को तो उनके प्रति अत्यन्त तिरस्कार हो ऐसा प्रतीत होता है, घृणा हो ऐसा प्रतीत होता है। यह सचमुच अत्यन्त खेद की बात है।

ऐसी अनेक बातें हैं जो पुरानी थीं फिर भी जनता के लिये अत्यन्त कल्याणकारी थी।

स्त्री की परतन्त्रता के पीछे उत्तम आशय

हमारी प्राचीन संस्कृति में नारी को स्वतन्त्रता देने का सर्वथा निषेध था। ''न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति'' अर्थात् स्वतंत्रता देने के योग्य नहीं है।

यह बात नारी के घर से बाहर की स्वतन्त्रता की निषेधक थी। उसे पुरुष की तरह विश्व में चाहे जहाँ, चाहे जब, चाहे जिसके साथ हिलने-मिलने की स्वतंत्रता नहीं थी। नारी को इस प्रकार की मर्यादा का पालन करना इसलिये आवश्यक था कि (यदि वह ब्रह्मचारिणी साध्वीजी का जीवन नहीं जी सके तो) वह विवाह करके माता बननेवाली है। अत: उसके आचार-विचारों का प्रभाव उसकी भावी सन्तान पर अवश्यमेव पड़ेगा और यदि उसे स्वतंत्रता प्रदान की जाये, उसका सतीत्व नष्ट हो जाये तो उसकी भावी सन्तान निकृष्ट होंगी। अत: भारत की भावी प्रजा उत्तम संस्कार युक्त हो इस उत्तम आशय से नारी को बाह्य क्षेत्रों में पुरुष के समान स्वतन्त्रता प्रदान करने का निषेध था।

घर के भीतर तो नारी पूर्णत: स्वतंत्र थी। पति-सेवा, गृह-शोभा और बाल-पालन जैसे कार्यों में उसे सम्पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान की गई थी, परन्तु आज प्राचीन रूढियों को तोड़ डालने में ही शौर्य समझने वाले सुधारकों ने स्त्री को स्वतन्त्र निषेध की आर्ष-प्रणीत रूढि को नष्ट प्राय: कर दी। इसका परिणाम क्या मिला? स्त्रियों का शील खतरे में पड़ गया। अनेक नारी बाह्य ज्ञान का, स्वतंत्रता का लाभ अवश्य प्राप्त कर सकी परन्तु उन्हें अपने उज्ज्वल शील की बलि देनी पड़ी, अपनी सन्तान के सदाचार सुसंस्कारों की बलि देनी पड़ी और भारत की जनता दिन प्रतिदिन सुसंस्कार विहीन बन कर विषय-वासनाओं की भूखी होती गई।

गायों की दुर्दशा और ड़ेरियों का दूध

गायों को वधिकगृहों (कत्लखानों) में भेजा गया। जिस गाय को 'गौमाता' कहकर हिन्दुओं ने उसका सम्मान एवं गुण-गान किया था, उस गाय को मृत्यु के मुँह में झौंक दी गई। उसके स्थान पर ड़ेरियों का श्री गणेश हुआ। परिणाम यह हुआ कि भारतीय जनता गाय-भैंसों के स्वास्थ्यप्रद दूध के बदले ड़ेरियों के पाउड़र युक्त दूध पीने लगी, जिसमें से प्रथम ही तत्त्व निकाल दिया गया होता है। इस प्रकार का दूध पीनेवाली जनता में बुद्धिहीनता, असत्यता, विवेकशून्यता उत्पन्न नहीं होगी तो और क्या होगा?

गाय की अपेक्षा ड़ेरियों का दूध, उनका आयोजन आदि मँहगे होते गये। अरबों रूपये नष्ट करके आज जनता को सत्त्वहीन दूध पीने को मिलता है और वह भी अपार मँहगे मूल्य पर।

ऐसी तो कितनी ही बातों में हमने प्राचीन को समाप्त करके, तोड़ करके नवीन किया, परन्तु परिणाम स्वरूप सुखी होने के बदले हम दु:खी ही हुए हैं।

प्राचीन समय की बैल-गाड़ियों को तिलांजलि देकर पेट्रोल तथा ड़ीजल से चलने वाले वाहनों को हमने अपनाया। बैलगाड़ियों के कारण बैलों का भी पोषण होता था। उनसे कृषि बहुत अच्छी होती थी, गोबर-मूत्र आदि का खाद प्राप्त होता था, भूमि में रस प्रविष्ट होता जिससे अच्छी पैदावार होती थी और अन्न भी उत्तम प्राप्त होता था। बैलगाड़ियों को हटाकर हमने ये समस्त लाभ खो दिये, बैलों और गायों को कत्लखानों के योग्य बना दिया, हमें में जीव-हिंसा की भावना में वृद्धि हो गई और गाय-बैलों के द्वारा अन्य अनेक लाभ होते थे जिन्हें हमने खो दिया।

आयुर्वेद विज्ञान का नाश करके क्या लाभ उठाया?

आयुर्वेद विज्ञान की अपेक्षा एलोपैथी विज्ञान को अधिक महत्त्व देने के कारण जनता के स्वास्थ्य को अत्यन्त हानि हुई। वर्तमान डाक्टर रोगी का रोग शीघ्र ठीक करने के लिये औषधियों की उग्र मात्रा देते हैं जिसके फलस्वरूप एलोपैथिक औषधियाँ एक रोग मिटाकर अन्य रोग उत्पन्न करती है। उसे ठीक करने के लिये डाक्टर तीसरे प्रकार की औषधि देता है और उसकी प्रति क्रिया स्वरूप (रीएक्शन से) चौथा 'कांक' रोगी की देह में खड़ा होता है। इस तरह रोगी इस विष-चक्र में से बाहर निकल ही नहीं सकता।

अनेक डाक्टर तो निदान करने में ही भारी गोते खाते रहते हैं परन्तु रोगी को उसकी अयोग्यता ज्ञात न हो जाये इस कारण वे उसे कुछ न कुछ औषधि लिख देते हैं। परिणाम स्वरूप रोगी की देह उग्र औषधियों की प्रतिक्रिया का भोग होकर सदा के लिये अस्वस्थ हो जाती है।

कुछ महत्त्वपूर्ण शल्य-क्रिया की बात को छोड़कर एलोपैथी औषधियाँ रोगियों का रोग निर्मूल करने में पूर्णत: विफल सिद्ध होती हैं, जबकि धैर्य एवं निष्ठा पूर्वक पथ्य पाल कर आयुर्वेदिक औषधियाँ ली जायें तो आज भी वे रोग को समूल नष्ट करने का सामर्थ्य रखती हैं।

ऐसे तो अनेक उदाहरण हैं जो प्राचीन परम्पराओं के मूल्यों को छोड़कर नवीन प्रयोग करने से होने वाली हानियों की स्पष्ट प्रतीति कराती हैं, फिर भी अभी तक हमारी परम्परागत रूढियों की अत्यन्त हँसी उड़ाई जा रही है। अनेक मनुष्य उन परम्पराओं एवं रूढियों का जाने-अनजाने विरोध कर रहे हैं।

आर्य परम्परा के प्रसिद्ध आचार

आर्य परम्परा के अन्य भी अनेक प्रसिद्ध आचार थे जैसे कि अतिथि का सत्कार करना, निर्धनों को दान आदि देना, अपनी शोभा तथा वैभव के अनुसार अनुदभट वेष-भूषा पहनना और अकालआदि के समय निर्धनों को विशेष प्रकार से दान देना, विशेष प्रसंगों पर दूसरों के घर जाना, किसी की देखा-देखी कार्य नहीं करना, विवाह आदि के समय धन का अपव्यय नहीं करना, मितव्ययी बनकर जीवन-निर्वाह करना, धर्मरहित जीवन यापन नहीं करना, स्वार्थी नहीं होना आदि अनेक प्रकार के प्रसिद्ध आचार हैं।

हमें देश-विदेशों के प्रसिद्ध आचारों का ज्ञान अवश्य होना चाहिये। यदि ज्ञान नहीं होगा तो कई बार अत्यन्त कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

अन्य देशों के आचारों के ज्ञान के अभाव में कठिनाई

इण्ड़ोनेशिया में प्रथा है कि जब दो व्यक्ति मिलते हैं तब वे परस्पर एक दूसरे के हाथ पर चुम्बन करते हैं। इस प्रकार की मिलन पद्धति उस देश का शिष्टाचार माना जाता है।

एक बार इण्डोनेशिया के दो नागरिक एक स्त्री तथा एक पुरुष-हज्ज करने के लिये मक्का गये थे। जब दोनों ने घर से प्रस्थान किया तब अलग अलग प्रस्थान किया था। मक्का में दोनों का मिलाप हुआ। उन्होंने अपने देश के आचार के अनुसार मिलन होने पर परस्पर एक दूसरे के हाथ पर चुम्बन किया।

दूर खड़े हुए तक सिपाही ने जब यह दृश्य देखा तो उसने उन दोनों को गिरफ्तार कर लिया, क्योंकि मक्का में सार्वजनिक रूप से परस्पर चुम्बन करना व्याभिचार माना जाता था।

राज्य सरकार ने न्यायालय में मुकदमा चलाया। उन दोनों इण्डोनेशिया निवासियों ने भी पैरवी करने के लिये एक वकील किया था। उसने न्यायालय में दलील की कि ''मेरे दोनों असील इण्डोनेशिया के निवासी है और उनके देश में इस प्रकार चुम्बन करना शिष्टाचार माना जाता है। इस देश में इसे चाहे व्यभिचार माना जाता हो, परन्तु उन्हें यह ज्ञात नहीं था, अत: उन्हें क्षमा किया जाये।''

तब मक्का के न्यायालय ने इस दलील को अमान्य करके स्पष्ट किया कि, ''कानून से अवगत नहीं होना कोई बचाव नहीं है (Ignorance of law is no excuse) इस देश में आने वाले मनुष्यों को इस देश के शिष्टाचारों से अवश्य अवगत होना चाहिये। उन्हें पूर्व से ही इस प्रकार का ज्ञान कर लेना चाहिये।''

न्यायालय ने उन्हें साधारण ही सही परन्तु दण्ड अवश्य दिया। जब उन दोनों इण्डोनेशिया के नागरिकों में हाईकोर्ट (उच्च न्यायालय) में अपील की तो वह खारिज कर दी गई और उक्त दण्ड को यथावत् रखा गया।

इस प्रसंग से स्पष्ट है कि अमुक देश के प्रसिद्ध आचारों से हमें अवश्य अवगत रहना चाहिये। यदि उस बात का ज्ञान ही नहीं होगा तो उस आचार का पालन करना कैसे संभव होगा?

स्वधर्मी भक्ति के प्रभाव से तीर्थंकर नामकर्म

हमारे प्रांगण में आये अतिथि को कदापि खाली नहीं लौटाना भी एक उत्तम आचार है।

अपने समानधर्मी व्यक्ति की भक्ति करना भी एक उत्तम आचार है।

समानधर्मी व्यक्ति की भक्ति के प्रभाव से संभवनाथ भगवान तीर्थंकर बने थे। वे संभवनाथ के रूप में आये उससे तीसरे भव में धातकी खण्ड में ऐरावत क्षेत्र में क्षेमपुरी नामक नगरी के विमलवाहन नामक राजा थे।

उनके शासनकाल में एक बार भयानक दुर्भिक्ष पड़ा था। उस समय उन्होंने दीर्घ काल तक नगर के समान धर्मी व्यक्तियों की उत्तम पकवानों (खाद्य पदार्थों) के द्वारा भक्ति की थी, जिसके प्रभाव से उन्होंने तीर्थंकर नामकर्म अर्जित किया।

तत्पश्चात् दीक्षा अंगीकार करके वे काल-क्रम से मरणोपरान्त देवलोक में गये और वहीं से इस चौबीसी में तीसरे तीर्थंकर श्री संभवनाथ बने थे।

जिस समय संभवकुमार का जन्म हुआ था, तब नगर में भयंकर दुर्भिक्ष चल रहा था, परन्तु उनके जन्म के प्रभाव से चारों ओर से पर्याप्त अन्न प्राप्त हुआ और नगर में सुकाल सुकाल हो गया। इस कारण ही कुमार का नाम 'संभव' रखा गया था।

दृढ़ प्रतिज्ञ राजा दण्डवीर्य

यह प्रसंग राजा दण्डवीर्य का है जो भरत चक्रवर्ती के वंशज थे। राजा दण्डवीर्य को समान-धर्मी व्यक्तियों की भक्ति किये बिना चैन नहीं पड़ता था। अपने घर पर आये हुए समानधर्मियों को भोजन कराने के पश्चात् ही वे भोजन करते थे। उनके इस नियम की परीक्षा लेने के लिये एक बार स्वयं देवेन्द्र इन्द्र आये।

उन्होंने अपनी दैवी शक्ति के प्रभाव से लाखों समान धर्मी उत्पन्न करके राजा दण्डवीर्य के भवन पर भेजने प्रारम्भ किये। प्रथम दिन तो सायंकाल तक निरन्तर स्वधर्मी आते रहे और राजा दण्डवीर्य सबको प्रेमसहित, भावपूर्वक भोजन कराते रहे।

दूसरे दिन भी स्वधर्मी आते ही रहे और सूर्यास्त तक वे उन्हें भोजन कराते रहे। राजा के प्रथम दिवस का तो उपवास था ही, और आज दूसरा उपवास भी कर लिया। इस प्रकार निरन्तर आठ दिनों तक समान-धर्मी बन्धु आते ही रहे, परन्तु तनिक भी आकुलता अनुभव किये बिना पूर्ण

सद्भाव सहित वे समस्त स्वधर्मियों को भोजन कराते ही रहे। इतना ही नहीं राजा ने पूरे आठ दिनों के उपवास किये, परन्तु अपनी प्रतिज्ञा भंग नहीं की।

राजा को अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ देखकर देवराज इन्द्र प्रसन्न हुए और उन्होंने उसे दिव्य धनुष एवं दिव्य कुण्डल भैंट दिये।

निस्सन्देह, अतिथियों का अथवा स्वधर्मियों का इस प्रकार सत्कार करने में धन का व्यय करना पड़ता है अथवा अन्य कष्ट सहन करने पड़ते हैं, परन्तु उसके समक्ष जो लाभ हैं वे अपार हैं। उनसे परलोक में तो सुख प्राप्त होते ही हैं परन्तु इस लोक में भी मान सम्मान, यश, लोकप्रियता आदि अनेक लाभ भी अवश्य प्राप्त होते हैं। इस दृष्टि से भी अतिथि सत्कार अथवा स्वधर्मी भक्ति आदि आचारों का अवश्य पालन करना चाहिये।

दया एवं करूणा भी इस देश में सर्व-मान्य सदाचार हैं।

भारत के तक सुप्रसिद्ध संत थे। सत्य बात कहने की उनकी एक विशेष आदत थी और सत्य बात कटु होने से कईयों को बुरी लगती है।

इन संन्यासीजी के जिस प्रकार अनेक भक्त थे उसी प्रकार से उनके अनेक विरोधी भी थे, परन्तु वे कदापि किसी की परवाह नहीं करते थे।

एक दिन उनके विरोधियों ने यह काँटा निकाल देने का निश्चय किया। वे जिस रसोइये के हाथ का भोजन करते थे, उस रसोइये को अपार धन का प्रलोभन देकर विरोधियों ने अपने साथ मिला लिया।

विरोधियों के निर्देशानुसार रसोइये ने संन्यासीजी के भोजन में विष मिला लिया। विष अत्यन्त घातक था। संन्यासीजी को तो रसोइये के प्रति अविश्वास करने का कोई कारण ही नहीं था। अत: इन्होंने वह विष मिश्रित भोजन कर लिया।

थोड़े ही समय में संन्यासीजी पर विष का प्रभाव होने लगा और उन्होंने रसोइये को बुलाकर सत्य बात कह देने का कहा और यह भी कहा कि यदि सत्य सत्य कहेगा तो अभयदान देने का विश्वास दिलाया।

रसोइये ने अपराध स्वीकार कर लिया। संन्यासीजी ने तुरन्त अपने जेब में से बीस रूपये निकाल कर उसे देते हुए कहा, ''इन रूपयों से तू तुरन्त रेलगाड़ी का टिकट लेकर अपने वतन में भाग जा। यदि विलम्ब करेगा तो तू पकड़ा जायेगा और मेरे भक्त तेरे टुकड़े-टुकड़ेकर ड़ालेंगे।''

स्वयं ने जिन्हें मार ड़ालने का षड़यन्त्र करने का क्रूर पाप किया है वे संन्यासीजी जब उसे बचाने का प्रयत्न करने लगे तो यह देखकर रसोइये के अन्तर में पश्चाताप का पार न रहा। अविरल अश्रु बहाते हुए उस रसोइये ने संन्यासीजी के चरणों में वन्दना करके उनसे विदा ली और इधर संन्यासीजी का निधन हो गया।

आर्यावर्त के दया के आचार का यह एक महान् उदाहरण है। भारतीय संस्कृति के उत्तराधिकारी हम कम से कम निर्दोष प्राणियों की हिंसातो न करें। अकाल आदि के समय अपने आश्रितों, स्वजनों एवं दीन-दु:खियों की यथा-शक्ति सहायता करना, उन्हें अन्न आदि देना भी एक महत्वपूर्ण देशाचार है।

जैनाचार्य श्री परमदेवसूरिजी के भक्त जगडूशाह को जब आचार्य श्री ने ज्ञान-बल से बताया कि विक्रम संवत् 1313, 1314 और 1315 तीन वर्ष तक निरन्तर दुर्भिक्ष पड़ने वाला है, उस समय एक उत्तम सुखी जैन के रूप में आपको किसी भी प्रकार का भेद भाव रखे बिना पर्याप्त अन्न आदि प्रदान करके सबकी रक्षा करनी चाहिये और उसके लिये आपको अभी से ही कुछ व्यवस्था करने के विषय में सोचना चाहिये।''

आचार्य देव के उपदेश को ध्यान में रखकर जगडूशाह ने अपार अन्न एकत्रित करना प्रारम्भ किया और अकाल का समय आने पर उन्होंने अपने अन्न के भण्डार सबके लिये खोल दिये।

अनेक राजाओं को भी उन्होंने अत्यन्त अन्न देकर कहा कि यह अनाज वे अपनी प्रजा तक पहुँचायें, कहीं इसका दुरुपयोग न हो।

इसके अतिरिक्त उन्होंने 112 दानशालाऐं भी खोलीं ताकि जनता लाभान्वित हो सकें। कुल मिलाकर जगडूशाह ने आठ अरब, साढे छ: करोड़ मन अनाज नि:शुल्क दान के रूप में जनता को वितरित कराया।

इस प्रकार के दानवीर जगडूशाह का जब निधन हुआ तब उसके सम्मान में दिल्ली के बादशाह ने अपने सिर से मुकुट उतारा था, सिन्ध-नरेश दो दिनों तक निराहार रहे और राजा अर्जुनदेव उस क्षति के कारण फूट-फूट कर रोये थे।

ऐसे अन्य आचारों में अन्य संन्यासियों अथवा अन्य धर्मों के विशिष्ट प्रसंगों में भी कभी - कभी उपस्थित होना पड़ सकता है। यदि ऐसा करने से जैन धर्म की प्रभावना होती हो तो वह भी करनी चाहिये।

वस्तुपाल एवं पेथड़शाह ने जैनों की सुरक्षा एवं जैन धर्म की प्रभावना के लिये मुसलमानों के लिये मस्जिदों का निर्माण कराया था जिसके सम्बन्ध में इतिहास के पृष्ठों में वर्णन उपलब्ध है। इस प्रकार के कार्यों के लिये उस प्रकार की विशिष्ट योग्यता भी होनी आवश्यक है। समस्त मनुष्य इस प्रकार के अपवादों का सेवन नहीं कर सकते, परन्तु अपने स्तर के योग्य देशाचार का प्रत्येक व्यक्ति को पालन करना चाहिये।

शिष्ट जनों द्वारा मान्य देशाचारों के पालन से आध्यात्मिक गुणों का विकास होता है जिससे उन आचारों का अनादर करना उचित नहीं हैं। व्यवहार में उचित एवं सुसंगत व्यवहार रखना भी देशाचार है।

मन कदाचित् विकार रहित हो, परन्तु व्यवहार में स्त्रियों से विशेष परिचय हो तो, शिष्ट-जन उसे मान्य नहीं करते। हाँ, कदाचित् पापोदय के कारण मन विकार-युक्त हो, परन्तु व्यवहार यदि स्त्रियों के परिचय से मुक्त हो तो उस मनुष्य का मन विशुद्ध होने के अनेक अवसर हैं।

प्रारम्भ में मन यदि निर्विकारी हो और स्त्रियों के साथ अधिक परिचय हो तो निर्विकारी मन सविकारी होने में तनिक भी विलम्ब नहीं लगेगा। अत: शिष्टजनों के द्वारा सदाचारी व्यक्ति को स्त्रियों के परिचय से मुक्त रहने के आचार को मान्य किया है। हमारे कारण अन्य व्यक्तियों का जीवन नष्ट न हो उस प्रकार से व्यवहार करना शिष्ट जनों का आचार है।

एक राजा था जो अत्यन्त उच्च कोटि का सदाचारी था। अन्तर में वह पूर्णत: विकारहीन था, परन्तु रानियों के साथ उसका निरन्तर परिचय रहता था। राजा के इस व्यवहार के सम्बन्ध में गाँव की एक सुशील सन्नारी को पता चला। वह राजा के समीप आई और तिरस्कार पूर्ण दृष्टि से उसकी ओर निहारने लगी।

तत्क्षण उस सुशील स्त्री की देह में भयंकर दाह उत्पन्न हो गया। उस समय राजा की रानियों ने कहा - हमारे पवित्र राजा के प्रति सन्देह युक्त दृष्टि से देखने का ही यह परिणाम हैं।''

राजा ने उस सुशील नारी को कहा ''मेरे स्नान का जल तुम अपनी देह पर छिड़क दो, जिससे तुम्हारा दाह शान्त हो जायेगा।''उस सुशील स्त्री ने ऐसा ही किया जिससे सचमुच उसके देह का दाह तुरन्त शान्त हो गया। तत्पश्चात् राजा ने उसे कहा, ''अब तो तुम्हें मेरी निर्विकारता पर पूर्ण विश्वास हो गया होगा।''

वह सुशील नारी बोली '' राजन । आप अविकारी अवश्य हैं, परन्तु उतने मात्र से आपको रानियों के साथ बाह्य व्यवहार भी अनुचित रखने का कोई अधिकार नहीं है, क्योंकि सामान्य जीव तो केवल बाह्य व्यवहार ही देखते हैं। उन्हें आपके अन्तर की बात तो ज्ञात होती ही नहीं। अत: आपको अन्तर की निर्विकारता के साथ बाह्य व्यवहार भी शुद्ध रखना चाहिये।''

उस सुशील नारी की बात राजा को उचित लगी और उसने अपने अनुचित बाह्यचार का परित्याग किया। मन की शुद्धता केवल अपना ही हित हित करने वाली है, जबकि बाह्य व्यवहार की शुद्धता अपना और अन्य व्यक्तियों का भी हित करती है।

आर्यावर्त के अनेक आचार अपने हित के साथ अन्य व्यक्तियों का हित भी मुख्यत: दृष्टिगत रखने वाले होते हैं। सद्गृहस्थों को यदि अपना जीवन श्रेष्ठ बनाना हो तो स्व-पर दोनों के हितकारी देशाचारों का अवश्य पालन करना चाहिये।

इस प्रकार के प्रमुख देशाचारों का पालन करते-करते जीव का शनै: शनै: ऐसा आत्मिक *विकास होता जाता है कि जिसे के द्वारा वह उत्तम धर्माचारों का भी पालन करते हुए मुक्ति-पथ पर अग्रसर होता रहता है।*

(छठा गुण)

निन्दा नहीं कीजे पारकी रे......

अवर्णवादी न क्वात्पि, राजादिषु विशेषत:।।

निन्दा-त्याग

बड़े-बड़े धर्मात्मा जीवों में भी जब पर-निन्दा करने का अत्यन्त भारी दुर्गुण दृष्टिगोचर होता है तब सचमुच हृदय व्यथा से व्याकुल हो उठता है।

ज्ञानी पुरूषों ने जिस निन्दा - त्याग नामक गुण को मार्गानुसारी जीव के स्तर का गुण बताया है, वह गुण यदि देश विरति एवं सर्व-विरति के स्तर तक पहुँचे हुए जीवों में भी दृष्टिगोचर न हो तो उससे किस सद्‌गुण-प्रेमी आत्मा का हृदय व्यथित नहीं होगा ?

निन्दा कदापि किसी की भी उपादेय नही है, फिर भी इस निन्दा का त्यागना कितना कठिन है..... क्यों ? किस लिये ? क्योंकि निन्दा की उत्पत्ति होती है - स्वयं के अहंकार में से।

और....अहंकार का परित्याग अति अति कठिन है। अहंकारी मनुष्य प्राय: पर-निन्दक होते हैं और निन्दक अन्य व्यक्तियों के वास्तविक गुणों की भी प्रशंसा नहीं कर पाते।

निन्दा क्यों नहीं करनी चहिये ? निन्दा करने से क्या हानियां हैं ? किसी को सुधारने के लिये भी पर - निन्दा क्यों नहीं करनी चाहिये ? इत्यादि प्रश्नों को उत्तम प्रकार से स्पष्ट करने वाले इस गुण-विवेचन का पठन-मनन अवश्य हीं करने योग्य है।

मार्गानुसारी आत्मा का छठा गुण है - निन्दा का त्याग ।

निन्दा अर्थात् अपने अतिरिक्त विश्व के श्रेष्ठ, सज्ञन अथवा दुर्जन अथवा अन्य किसी भी व्यक्ति की बुराई करने वाले, उसको निकृष्ट बताने वाले वचन कहना। वचनों के द्वारा किसी अन्य के गुणों पर, किसी भी सज्जनता पर प्रहार करना निन्दा है, किसी अन्य को गिराने का प्रयत्न निन्दा है।

'अमुक व्यक्ति बुरा है, यह बात निन्दा के द्वारा व्यक्त करके कुटिल रीति से 'मैं श्रेष्ठ हूँ' यह बताने का निन्दकों का भाव होता है।

निन्दा किसी की भी उपादेय नहीं है -

इस कारण ही ज्ञानी कहते हैं कि निन्दा किसी भी परिस्थिति में श्रेष्ठ नहीं है, उपादेय नहीं है, आचरणीय नहीं है। गुणवान पुरूषों की निन्दा तो त्याज्य है ही, परन्तु दुर्जन व्यक्तियों की निन्दा भी करनी नहीं चाहिये। कोई व्यक्ति यह तर्क प्रस्तुत करें कि ''दुष्ट व्यक्तियों की दुष्टता प्रकट करने वाली सत्य बात कहने में क्या आपत्ति है ? वह निन्दा थोड़ी ही कहलाती है ?

इसका उत्तर यह है साढ़े सत्रह बार आपत्ति है, पूर्ण आपत्ति है। प्रथम बात तो यह है कि दुष्टों की दुष्टता प्रकट करने की ठेकेदारी लेने की हमें कोई आवश्यकता नहीं है। दूसरी बात यह कि निन्दा चाहे दुर्जन की हो अथवा सज्जन की हो, उसे करने से हमारी जीभ दूषित होती है। इससे हमारा तो निश्चित रूप से अहित होता है।

रमापति मिश्र को मदनमोहन का श्रेष्ठ उत्तर -

मुझे स्मरण हो आई है बनारस के सुप्रसिद्ध विद्वान पणिडत मदनमोहन मालवीय एवं पण्डित रमापति मिश्र की बात। दोनों में किसी कारणवश भारी विरोध चल रहा था, फिर भी वे दोनों अपनी अपनी रीति से अत्यन्त ही सज्जन एवं सद्गुणी पुरूष थे।

एक बार पण्डित रमापति ने कहा ''मदन मोहन जी। आप मुझे एक सौ गालियां दें तो भी मेरा पारा नहीं चढेगा, आप प्रयत्न कर देखिये।'' तब पण्डित मदनमोहन मालवीय ने अत्यन्त सुन्दर उत्तर दिया- ''आपकी बात सच्ची होगी परन्तु आपकी सहिष्णुता की परीक्षा तो एक सौ गालियां देने के पश्चात् होगी, जबकि मेरा मुँह तो प्रथम से ही गालियाँ देने से गन्दा हो जायेगा, दूषित हो जाएगा। इस प्रकार की हानि का धंधा मुझे रास नहीं आयेगा।''

कैसी सुन्दर बात। यदि इतनी बात समझ में आ जाये कि निन्दा करने से मेरा मुँह निश्चित रूप से दुर्गन्ध युक्त हो जायेगा तो निन्दा का परित्याग करना प्रत्येक व्यक्ति के लिये सरल हो जायेगा। तीसरी बात यह है कि निन्दा करने से दुष्ट की दुष्टता दूर हो जाती है अथवा दुर्जन व्यक्ति सुधर जाता है - यह मानना तो निरा भ्रम है। उल्टा निन्दा करने से दुष्ट व्यक्ति के मन में हमारे प्रति विद्वेष की भावना जागृत होती है। उसके सुधरने के अवसरों की अपेक्षा निन्दा से उसके बिगड़ने के अवसर अधिक होने की सम्भावना है।

निन्दा का रस छोड़ना कठिन -

निन्दा का रस छोड़ना दुष्कर है, अति कठिन है। निन्दा के पाप का रस अनेक बड़े-बड़े साधु-सन्त भी नहीं छोड़ सकते। मिष्टान्न, फल और मेवों आदि के त्यागी सन्त भी इस निन्दा के रस का परित्याग नहीं कर सके, ऐसे अनेक उदाहरण देखेने को मिलते हैं। इससे यह माना जा सकता है कि इन समस्त मधुर एवं स्वादिष्ट खाद्य पदार्थों की अपेक्षा भी कदाचित् निन्दा का रस निन्दक व्यक्तियों के मन में अधिक मधुर होगा।

अनेक बार धार्मिक क्षेत्र में, साधु-साध्वियों में भी तथा उनके अनुयायियों में भी एक तिथि और दो तिथि के नाम पर, सुगुरू और कुगुरू के नाम पर, शास्त्र और सिद्धान्त के नाम पर, सुगच्छ और कुगच्छ के नाम पर, धर्म और शासन - रक्षा के नाम पर स्वयं से विपरीत मन्तव्य रखने वालों के प्रति व्यापक प्रमाण में निन्दा होती है, अब अत्यन्त खेद होता है, दु:ख होता है।

महान् गच्छाधिपति एंव व्याख्यान वाचस्पति भी जब परोक्ष रूप से इस प्रकार की निन्दाओं में पूर्ण सहयोग प्रदान करते हुए प्रतीत होते हैं तब प्रशन उठता है कि इनमें वास्तविक धर्म कहाँ है ? निन्दातिरेक से सामने वाले व्यक्तियों के प्रति भयंकर मानसिक विद्वेष में से निन्दा की चिनगारियाँ उड़ाती पत्रिकाएँ अत्यन्त प्रमाण में प्रकाशित होती दृष्टिगोचर होती हैं तब मन में प्रश्न उठता है कि निन्दा की यह भयंकर दीमक जैन-शासन रूपी भव्य भवन को भीतर ही भीतर खा कर कहीं खोखला तो नहीं कर डालेगी ?

निन्दा का रस (स्वाद) अत्यन्त तीव्र होता है। इसकी भयानकता का कोई पार नहीं है। कमरे की छत का पाट चाहे कितना हीं सुदृढ हो परन्तु यदि एक बार उसमें दीमक लग गई तो सड़कर नष्ट होने में उसे तनिक भी विलम्ब नहीं लगेगा। इसी प्रकार से जहाँ निन्दा रूपी दीमक लग जायेगी वे शक्तिशाली संघ, समाज, राज्य, प्रशासन अथवा सम्प्रदाय पूर्णत: नष्ट हो जायेंगे, उनकी नींव कमजोर होकर हिल जायेगी।

यदि वर्तमान दूषित युग में हमें बलवान बनकर जीवित रहना हो तो हमें निन्दा के पाप से सौ कोस दूर रहना चाहिये।

साधु एवं वेश्या का दृष्टांत -

निन्दा की भयंकरता के सम्बन्ध में यहाँ एक साधु एवं वेश्या का सुन्दर दृष्टान्त है। वेश्या एवं साधु के आवास आमने-सामने थे। उनके द्वार भी आमने-सामने थे। वेश्या के घर पर अनेक वासना के कीड़े थे। उनके सुख की अभिलाषा से आते रहते थे और उस संत के द्वार पर अनेक व्यक्ति धर्मोपदेशों का श्रवण करने के लिये आते थे।

संत सदा उस वेश्या की निन्दा करते रहते ''देखो न यह वेश्या ! अपना अमूल्य मानव-भव कैसे नष्ट कर रही हैं ? इससे तो मर जाना अधिक श्रेयस्कर है। छि:, कैसा पशुओं का सा जीवन

है।''

संत की इस निन्दा में उसके भक्तगण भी योग देते । इस प्रकार भक्त और उनके गुरू निरन्तर वेश्या की निन्दा में लीन रहते। वह वेश्या नित्य उस साधु को देखती और मन ही मन सन्त की अत्यन्त प्रशंसा करती और अपनी स्वयं की आत्म-निन्दा भी साथ ही साथ करती। वह कहती ''कितना उत्तम जीवन है उस साधु का। कैसा पाप-रहित है उसका जीवन! धन्य है उसे, जो स्वयं निष्पाप -जीवन जीता है और अन्य जीवों को भी पाप-रहित जीवन जीने का उपदेश देता है इधर मेरा यह जीवन, केवल पापों से परिपूर्ण है। इस प्रकार का जीवन जीने के लिये इतने घोर पाप करने की अपेक्षा तो मृत्यु हो जाये तो कितना उत्तम है।''

इस प्रकार वह वेश्या निरन्तर अपनी स्वयं की निन्दा और सन्त की प्रशंसा करती और एक दिन स्वर्ग-लोक से विमान आया। साधु और उसके भक्तों ने सोचा ''हमारे गुरूदेव को लेने के लिये ही यहविमान उतर आया है।'' परन्तु यहक्या ? विमान तो साधु के द्वार पर आने के बदले वेश्या के द्वार पर ठहरा और देखते ही देखते वेश्या को लेकर उड़ गया।

इस रहस्य का भेद स्पष्ट करते हुए किसी ज्ञानी पुरूष ने कहा, ''इसका कारण यह है साधु निष्पाप-जीवन यापन करते होने पर भी उनके पक्ष में वेश्या की निन्दा करने का पाप अत्यन्त भयंकर था जिसने समस्त उत्तम गुणों को दबा लिया, जबकि वेश्या का जीवन पापपूर्ण होते हुए भी साधु के निष्पाप-जीवन की प्रशंसा करने का उसका एक सद्गुण अत्यन्त उच्च कोटि का था, जिसने उसे स्वर्ग के विमान के योग्य ठहराया।''

निन्दा की अशक्तता क्यो?

निन्दा की सबसे बड़ी अशक्तता यह है कि वह अपने सर्वाधिक निकटस्थ व्यक्ति की ही की जाती है। हिन्दू लोग जितनी मुसलमानों की निन्दा नहीं करेंगे उतनी वे हिन्दुओं की ही करेंगे।

उसमें भी वैष्णव सम्प्रदाय वाले अपने ही सम्प्रदाय के मनुष्यों की, शैव सम्प्रदाय वाले तथा स्वामिनारायण सम्प्रदाय वाले भी अपने अपने मनुष्यों की ही निन्दा करते प्रतीत होते हैं। जैनों में भी यही स्थिति प्रतीत होती है। स्व पक्ष वाले व्यक्ति पर पक्ष के व्यक्तियों की अपेक्षा स्व-पक्ष के ही व्यक्तियों की निन्दा करने में अत्यन्त रूचि लेते हैं।

निन्दा की उत्पति कहाँ से होती है ?

निन्दा की उत्पति अहंकार में से होती है और उस अहंकार में जब ईर्ष्या मिश्रित हो जाती है तब ही निन्दा रूपी पुत्र का जन्म होता है। इस दृष्टि से निन्दा का पिता है अहंकार और माता है ईर्ष्या।

अहंकार के कारण स्वयं के ही गुण देखने की वृत्ति अनेक व्यक्तियों में होती है और इस कारण ही जब किसी अन्य व्यक्ति के गुणगान होने की बात जब वे सुनते हैं तब उनकी ईर्ष्या भभक उठती है और उस गुणवान पुरूष के गुणों के विषय में अधिकाधिक सुनते रहते हैं तब उस ईर्ष्या के गर्भ

से निन्दा रूपी पुत्र का प्रसव होता है।

आत्म-गुण-दर्शन की आदत से पर-दोष-दर्शन होने लगा और ऐसी दोष-दृष्टि के पाप से निन्दा प्रकट होने लगी।

भयानक क्या है - दृष्टि दोष अथवा दोष दृष्टि ?

मानव-जीवन को अत्यन्त दूषित करने वाले दो महान दोष हैं - दृष्टि दोष तथाा दोष दृष्टि। दृष्टि-दोष अर्थात् दृष्टि में दोष अर्थात् विकार भाव। जिसकी दृष्टि स्त्रियों अथवा पुरूषों के प्रति अच्छी नहीं हो उसे हम दृष्टि दोष युक्त कह सकते है।

प्राय: युवा स्त्री-पुरूषों में यह दोष विशेष प्रमाण में दृष्टिगोचर होता है, फिर भी अनेक वृद्ध पुरूषों में भी दृष्टि-दोष होने का अनेक बार अनुभव होता है।

दूसरा है दोष-दृष्टि, जिसकी दृष्टि अन्य व्यक्तियों के दोष ही देखती है वह है दोष-दृष्टि।

इस दोष-दृष्टि के कारण से ही अन्य व्यक्तियों की निन्दा करने की कुटेव उत्पन्न होती है। अपेक्षाकृत दृष्टि-दोष की अपेक्षा दोष-दृष्टि का पाप अत्यन्त भयंकर है, क्योंकि दृष्टि-दोष में तो केवल स्वयं का ही मन विकारी होता है, जबकि दोष-दृष्टि-युक्त व्यक्ति तो निन्दा करके अन्य अनेक व्यक्तियों के मन दूषित करने का कार्य करता है।

ईर्ष्या भयानक दोष :-

अहंकार से उत्पन्न ईर्ष्या कैसी भयानक होती है ? उच्च कोटि के आचार्य पद पर पहुंचे हुए महात्मा भी ईर्ष्या एवं निन्दा के कारण दुर्गतियों में जाने के शास्त्रों में अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं।

पूज्य पंन्यास प्रवर श्री चन्द्रशेखर विजयजी महाराज श्री ने इस कथा का अत्यन्त ही रोचक शैली में वर्णन किया है। उनकी कथा उन्हीं के शब्दों में वर्णित है :-

वे समर्थ जैनाचार्य थे।

उनका नाम था नयशीलसूरिजी।

वे अत्यन्त ज्ञानी थे, परन्तु कदाचित् उस ज्ञान का ही उन्हें अजीर्ण हो गया होगा अत: वे अत्यन्त सुखमय थे। समस्त दिन वे आराम से ही रहते थे। उनके एक अत्यन्त विद्वान शिष्य था, जिसमें विद्वता के साथ नम्रता भी विद्यमान थी। अत: अनेक साधु इसके पास स्वाध्याय करते, पाठ लेते।

गुरूदेव की सुखशील जीवन पद्धति के कारण व्याख्यान भी यह शिष्य ही देता था। इस कारण लोग भी इस शिष्य के समीप अधिक बैठते और उसे तत्व-विषयक प्रश्न पूछते।

इस बात से गुरूदेव नयशीलसूरिजी को तो अत्यन्त हर्ष होना चाहिए था, परन्तु दुर्भाग्यवश वे उसकी ईर्ष्या करने लगे। अपने शिष्य का यह उत्कर्ष वे सहन नहीं कर पाये।

फिर भी वे अपने शिष्य पर कदापि क्रोध प्रदर्शित नहीं कर सकते थे अथवा साधुओं का स्वाध्याय आदि बन्द नहीं करा सकते थे। क्योंकि यदि वे ऐसा करने लगे तो सब लोग समझने लगे कि गुरूदेव अपने शिष्य के उत्कर्ष (उन्नति) की ईर्ष्या करते हैं।

हृदय में जलती-भुनती गुरू की आत्मा एक दिन देह त्याग कर चल दी।

वह आत्मा काले नाग के भव में गई। अब साधुओं का नेतृत्व उस विद्वान शिष्य के हाथ में आया। गाँव-गाँव विहार करते हुए वे समस्त मुनिगण उसी उद्यान में आकर उतरे जहाँ वह काला नाग निवास करता था।

स्वाध्याय आदि से निवृत्त होकर वह विद्वान शिष्य ध्यान आदि के लिय उद्यान में वृक्ष के नीचे बैठने के लिय चला तब कुछ अमंगल हुआ। वह पुन: उपाश्रय में जाकर पुन: वृक्ष के नीचे बैठने के लिये प्रयाण करने लगा तो पुन: अमंगल हुआ। तीसरी बार भी जब ऐसा ही हुआ तब अन्य साधुओं ने उन्हें अकेले जाने से रोका तब वे कुछ मुनिगण के समूह में वहाँ गये।

तनिक आगे-जाने पर ही वह काला नाग फुफकारता हुआ आगे आया। अत्यन्त सावधान मुनियों ने उसे तुरन्त पकड़ लिया और वे उसे कहीं दूर छोड़ आये, परन्तु उस समय भी वह अपने वयोवृद्ध मुनि की ओर तीक्षण दृष्टि से घूर रहा था और उग्र क्रोध में वह उन पर झपटने का प्रयत्न कर रहा था।

पूर्वभव की ईर्ष्या ने इस भव में भी वैर जागृत किया था। अत: साधुओं को आश्चर्य हुआ। अपने वयोवृद्ध मुनि पर इस नाग को इतना इधिक क्रोध क्यों आता होगा, यह वे नहीं सकझ सके।

अवसर पाकर उन मुनिगण ने उस उद्यान का त्याग करके अपना विहार आगे बढाया। मार्ग में किन्हीं विशिष्ट ज्ञानी महात्मा ने उन ज्ञानी महात्माओं को पूछा ''हम यह नहीं समझ पाये कि हमारे वयोवृद्ध मुनि के प्रति उस उद्यान का काला नाग उग्र क्रोध क्यों करता होगा ? कृपा करके आपे अपने ज्ञान-बल से हमारा संशय दूर करें।''

यह सुनकर उन महात्मा ने कहा ''वह काला नाग आपके स्वर्गीय गुरू देव नयशीलसूरीजी की ही आत्मा है। आपको स्वाध्याय आदि कराने वाले इन विद्वान मुनि प्रति उन्हें उस समय अत्यन्त ईर्ष्या थी और उसी स्थिति में उनका निधन हो गया। परिणाम स्वरूप वे काले नाग बने हैं और पूर्व संस्कारों के कारण ही वे आपके विद्वान ज्येष्ठ मुनि पर क्रोधित हुए थे।''

यह सुनकर समस्त मुनिगण स्तंभित हो गये। सबके अन्तर से ध्वनि निकली ''कर्म की कैसी विषम दशा है! यदि तनिक भी दोष हमको लग गया तो हमारा भी क्या होगा?

कैसी कटु यह शास्त्रीय कथा है! जीवन के अपने सद्गुण सम्मिलित होकर भी नयशीलसूरिजी की ईर्ष्या रूपी अवगुण से हुई दुर्गति को नहीं राक सके।

ईर्ष्या यदि इतनी भयानक है तो उसमें से ही उत्पन्न होने वाली निन्दा उससे भी अधिक

भयानक है। निन्दा की इस दुर्गति-करकता को पहचान कर उसका अवश्य परित्याग करना चाहिये। जीवन में यदि उत्तम सद्गृहस्थ होना हो तो निन्दा का परित्याग आवश्यक है।

निन्दा : प्रशंसा का अवसर खो देती है -

निन्दा के रस के कारण अनेक मनुष्य अन्य व्यक्तियों के उत्तम एवं सच्चे सत्कर्मों की भी प्रशंसा नहीं कर पाते। उनके समक्ष जबकोई यह कहता है कि ''आपके पड़ौसी मोतीचंद भाई ने संघ में अत्यन्त धन का व्यय किया। लगभाग पांच लाख रूपये व्यय किये होंगे''

तब निन्दक व्यक्ति तुरन्त कहेगा ''देखा, देखा पांच लाख रूपये व्यय करने वाला! एक ओर तो लोगों के गले पर छुरी फिराते हैं और दूसरी ओर धर्मात्मा कहलाने के लिए दान देते हैं, संघ निकालते हैं ऐसे व्यक्तियों के धर्म का क्या मूल्य ?

निन्दा की यह वृत्ति अन्य व्यक्तियों के उत्तम धर्म की भी प्रशंसा करने का अवसर खो देती है, अत: इसको जीवन में से निष्कासित ही करनी चाहिए।

विशेषता तो यह है कि ऐसे निन्दक मनुष्य स्वयं के दुर्गुणों की कदापि निन्दा नहीं कर सकते। इतना ही नहीं, अपने जीवन के लघु गुणों को दीर्घ करके बताने का उनका निरन्तर प्रयत्न रहताहै और जब अपनी लकीर को बड़ी करके दिखाने में वे विफल होते हैं तब अन्य व्यक्तियों की बड़ी लकीर को, अन्य व्यक्तियों के सद्गुणों को, काट कर अपनी लकीर को बड़ी बताने का वे प्रयास करते रहते हैं।

परन्तु सत्य बात तो यह है कि उस प्रकार से कोई कदापि महान् नहीं हो सका। जो सचमुच होना चाहता है उसे तो अपने ही जीवन में सद्गुण रूपी लकीरों को बड़ी बनाने का प्रयत्न करना चाहिये, अन्य व्यक्तियों के सद्गुणों रूपी लकीरों के काट डालने का (निन्दा करने का) अधम प्रयत्न कदापि नहीं करना चाहिए।

कुन्तलादेवी की ईर्ष्या -

अहंकार एवं ईर्ष्या उत्तम जीवों का भी मान भुला देती है। उत्तम बात में की जाने वाली ईर्ष्या भी जीव को दुर्गति में धकेल देती है।

एक राजा के अनेक रानियाँ थी, जिनमें मुख्य कुन्तलादेवी थी। वह परमात्मा की पूजा-विधि की विशेष ज्ञाता थी। वह नित्य भाव पूर्वक जिन-पूजा करती थी।

उसने अपनी सौतों को भी पूजा करने की विधियों का ज्ञान दिया था, जिससे वे भी विधि पूर्वक जिन-पूजन करने लगी।

शनै: शनै: परिस्थिति में इतना परिवर्तन हो गया कि वे सौत कुन्तलादेवी से अधिक उत्तम प्रकार से जिन-पूजा करने लगी। कुन्तलादेवी यह सहन नहीं कर सकी। वह भी अधिक ध्यान से जिन-भक्ति करने लगी। अधिक तो थी परन्तु उसकी मूल में सौतों के प्रति ईर्ष्या भरी हुई थी। अत्यन्त

धन व्यय करके की जाने वाली जिन-भक्ति भी कुन्तलोदवी की दुर्गति को नहीं टाल सकी।

मृत्यु होने पर कुन्तलादेवी उसी नगरी की उसी गली में कुतिया बनी। कैसी दुर्दशा! गली में रानियों के आवास के समक्ष, अपनी ही पूर्व जन्म की सौतों के समक्ष ईर्ष्यावश निरन्तर भौंकने के अतिरिक्त उसके पास अब अन्य कोई शस्त्र नहीं था।

एक दिन जब कोई ज्ञानी पुरूष नगर में पधारे तब उन सौतों ने उन्हें पूछा भगवन्! इस कुतियां के साथ हमारा क्या सम्बन्ध है ? यह नित्य हमें देखकर क्यों भौंकती रहती है?

तब ज्ञानी भगवन् ने बताया, ''तुम्हारी जिन-भक्ति देखकर तुम्हारी घोर ईर्ष्या के कारण ही कुन्तल कुतिया हुई है, जो पूर्व जन्म में ईर्ष्या के संस्कार के कारण आज भी तुम्हें देखकर भौंकती रहती है।

निन्दा की जननी ईर्ष्या कितनी भयानक है, खतरनाक है ?

आत्म-प्रशंसा कदापि न करें -

निन्दक व्यक्ति जिस प्रकार पर-निन्दा करता है उसी प्रकार से स्वयं की प्रशंसा करने में भी वह प्राय: नित्य तत्पर ही रहता है।

धर्मदत्त ने अपने पिता की सम्पति से दीक्षा ग्रहण की थी। दीक्षा के पश्चात् मुनि धर्मदत्त महान् तपस्वी बना। तप के साथ-साथ उसने दुर्लभ चित्त-शान्ति,समता, शान्त-स्वभाव भी प्राप्त कर लिया था।

मुनि धर्मदत्त के इन गुणों के कारण उनका इतना प्रभाव फैला कि नित्य वैरी माने जाने वाले प्राणी जैसे शेर-बकरी, साँप-नेवला आदि भी उनके चरणों में आकर प्रशान्त हो जाते और परस्पर मित्र हो जाते।

उसके संपर्क से हजारों भीलों, शिकारीयों, हत्यारों एवं लुटेरों ने अपना पापी जीवन त्याग कर धर्ममय जीवन स्वीकार कर लिया था।

इस प्रकार के इस मुनिवर में भी एक दोष रूकावट बन गया और वह दोष था आत्म-प्रशंसा।

धर्मदत्त मुनि के पिता ने अपने पुत्र-मुनि की प्रशंसा चारों ओर से सुनी थी, जिससे वे अत्यन्त प्रफुल्लित थे। वे एक दिन पुत्र मुनि को वन्दनार्थ आये। तत्पश्चात् वे मुनिवर के समीप बैठे ओर उन्होंने मुनि की फैली कीर्ति की प्रशंसा की।

तब धर्मदत्त मुनि ने कहा ''मैं अपने ही मुँह से अपनी प्रशंसा करूँ वह उचित नहीं है, अत: आप सामने बैठे हुए मेरे शिष्य के पास जाइये, वह मेरे द्वारा अर्जित सिद्धियों एवं लब्धियों की बात आपको बतायेगा।

सरल-हृदयी पिता तो उस शिष्य-मुनि के पास गये और उससे अपने पुत्र-मुनि की सिद्धि

आदि के सम्बन्ध में बातें सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुए।

परन्तु इस प्रकार शिष्य के द्वारा आत्म-प्रशंसा करा कर धर्मदत्त मुनि ने माया के पाप का आचरण किया था जिसके फल स्वरूप जन्मान्तर में उन्होंने नारी का भव प्राप्त किया।

अपनी सच्ची प्रशंसा भी नहीं करनी चाहिये -

कोई व्यक्ति यदि तर्क प्रस्तुत करें कि ''अपने सद्गुण की सच्ची बात अन्य व्यक्ति को कहने में क्या बुराई है?'' इस बात के उत्तर स्वरूप उपर्युक्त कथा है।

अपनी सच्ची प्रशंसा भी हमें स्वयं करानी नहीं चाहिये अथवा हमारे साथियों आदि के द्वारा करानी नहीं चाहिये।

इसी प्रकार से किसी अन्य व्यक्ति की बुराई भी हमें करनी नहीं चाहिये अथवा अपने साथियों के द्वारा करानी नहीं चाहिये।

'' अपनी स्वयं की प्रशंसा करना नहीं चाहिये और अन्य व्यक्तियों की निन्दा नहीं करनी चाहिये।'' *ये तो हमारी भारतीय संस्कृति के नींव के गुण थे और कदाचित् इस कारण ही प्राचीन काल* में राजा जब स्वयंवर में जाते तब उनके गुणों का वर्णन स्वयंवरा कन्या के समक्ष अन्य दासी आदि करती। राजा लोग स्वयं अपने वास्तविक गुण-शूर वीरता, साम्राज्य और सदाचार के सम्बन्ध में कदापि कुछ नहीं कहते थे।

तीन उंगलियाँ आपकी ओर -

दूसरों की निन्दा करते समय जब आप उनकी ओर उंगली करते हैं तब अन्य तीन उंगलियाँ आपकी ओर होती हैं। इस बात से यह सूचित होता है कि जिस व्यक्ति की आप निन्दा कर रहे हैं, जिस व्यक्ति के दोषों की आप बातकर रहे हैं उस व्यक्ति से तीन गुने दोषी आप स्वयं है।

अब आपको दूसरों की निन्दा करने का क्या अधिकार है ? यदि हम स्वयं ही असंख्य दोषों से युक्त हैं तो अन्य व्यक्तियों के दोषों की पंचायत करने का हमें कोई अधिकार नहीं हैं।

कबीरदासजी ने कहा है कि -

''मो सम कोन कुटिल, खल, कामी।

जिसने यह तनु दियो, उसको ही विसरायो ऐसो निमकहरामी।''

मेरे समान कुटिल, खल (दुष्ट) एवं कामी अन्य कौन है। मुझे यह देह जिसने प्रदान की (भगवान ने ही यह देह आदि हमें प्रदान की है, उस मान्यता के अनुसार ये पंक्ति है) उसे ही मैंने भुला दिया, मैं तो ऐसा नमक हरामी हूँ।

यह बात सब पर लागू होने जैसी है। यदि हम स्वयं कदाचित कुटिल, दुष्ट एवं कामी हैं तो हम किसी अन्य के अवगुणों के प्रति घृणा रखने के अथवा प्रदर्शित करने के अधिकारी नहीं हैं।

यदि हम काँच के घर में रहते है तो दूसरे के काँच के घर के उपर पत्थर मार कर तनिक भी लाभ प्राप्त करने वाले नहीं हैं।

स्वयं पापी पर-निन्दा क्यों करें ?

एक स्त्री किसी पर-पुरुष के साथ दुराचार कर चुकी थी। उसके उस पाप की पोल खुल गई। अत: गाँव के मुखियों ने उसे समस्त जनता के समक्ष खड़ी रख कर लोगों के द्वारा पत्थर मारे जाने का प्रायश्चित दिया।

निश्चित समय पर सहस्त्रों मनुष्य उस कुल्टा पर पत्थर मारने के लिये एकत्रित हो गये। यह बात जब ईसा मसीह को ज्ञात हुई तो वे दौड़ते हुए उस स्त्री के समीप आकर खड़े हो गये और पत्थर मारने के लिये एकत्रित जन-समूह से उन्होंने कहा ''आप में से ऐसा कौन व्यक्ति है जिसने जीवन में कदापि कोई पाप नहीं किया ? इस बहन ने व्यभिचार किया और वह पकड़ी गई, अत: उसे दण्ड दिया गया। आपके दुराचार अथवा अन्य पाप पकड़े नहीं गये अत: आप दण्ड के पात्र नहीं माने गये, यही बात है न ?''

जब पन्द्रह मिनट तक भी कोई व्यक्ति सामने नहीं आया तब ईसा मसीह ने समस्त मनुष्यों को वहाँ से भगा दिया। यह दृष्टान्त हमें निन्दा के पाप से बचने का उत्तम परामर्श देता है।

पूर्णत: पाप-रहित तो केवल वीतराग परमात्मा हैं। वे जब किसी की निन्दा नहीं करते तो हमारे पूर्ण पापी अन्य दुष्ट लोगों की भी निन्दा कैसे कर सकते हैं ?

अन्य व्यक्ति को सुधारने की बात उसे गुप्त रूप से कहें -

प्रश्न : किसी व्यक्ति को यदि हम उसके दुर्गुणों के विषय में नहीं कहेंगे तो वह सुधरेगा कैसे ?

उत्तर : किसी व्यक्ति का आप सुधार करना चाहें तो उसके दुर्गुणों की सार्वजनिक रूप से निन्दा आलोचना तो नहीं होनी चाहिये। उस व्यक्ति को उसकी भूलें बताने के लिये प्रथम तो हमें वैसा अधिकार चाहिये।

यदि हमें उस प्रकार का अधिकार हो तो भी खुल्लम खुल्ला तो उसकी निन्दा नहीं की ही नहीं जा सकती। वैसा करने से तो वह व्यक्ति उल्टा फोड़े की तरह वक्र हो जायेगा।

कुछ विशिष्ट वक्ताओं को भी अनेक व्यक्तियों की सार्वजनिक रूप से आलोचना, निन्दा करने का शौक होता है और उनके अनुयायी उनके उस कृत्य की अत्यन्त प्रशंसा करते हैं ऐसे उदण्ड वक्ताओं को मिथ्या बल प्राप्त होता है।

किसी व्यक्ति को यदि सचमुच सुधारना हो तो उसका सच्चा उपाय यह है कि उसे अपने पास बिठाकर गुप्त रूप से अत्यन्त प्रेम पूर्वक वात्सल्य भाव से अपनी भूले बतानी चाहिये।

भूलें भी तुरन्त नहीं बताई जाती। प्रथम तो उसके वास्तविक गुणों की प्रशंसा की जाये और तत्पश्चात् ही उसकी वास्तविक भूलों की ओर उसका ध्यान आकर्षित किया जाये, ऐसा करने

करने में नम्र भाषा का उपयोग किया जाये। इस प्रकार से वह व्यक्ति निश्चित ही सुधरेगा ओर कदाचित् इस प्रकार के प्रयत्न पर भी यदि वह नहीं सुधरे तो भवितव्यता पर सब कुछ छोड़ देना चाहिये। परन्तु किसी व्यक्ति को सुधारने के लिये सार्वजनिक रूप से उसकी कटु आलोचना एवं निन्दा का मार्ग अपनाना तो सर्वथा अनुचित है।

अन्य व्यक्ति की निन्दा से आप ही अवगुणी बनेगे -

यह एक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण बात है कि जिस व्यक्ति की आप अत्यन्त निन्दा करते होंगे, उसका वहीं अवगुण आपके जीवन में प्रविष्ट हुए बिना नहीं रहेगा।

बार-बार निन्दा करने से उस निन्दनीय दुर्गण में आपका चित्त तदाकार होता जाता है और उससे ही कदाचित वह दुर्गुण आप में प्रतिबिम्बित होकर प्रविष्ट हो जाता है। अत: यदि हम दुर्गणी होना नहीं चाहते तो भी अन्य व्यक्तियों के दुर्गुणों की निन्दा कदापि नहीं करनी चाहिये।

दूसरों द्वारा की जाने वाली निन्दा को समभाव से सहन करें -

अब एक अन्य बात स्मरण रखने योग्य है। जिस प्रकार हमें दूसरों की निन्दा नहीं करनी चाहिये, उसी प्रकार से जब कोई अन्य व्यक्ति हमारी निन्दा करते तब तनिक भी क्रोधित हुए बिना उसे सुन लेना चाहिये। प्रत्यक्ष में अथवा परोक्ष में हमें जब ज्ञात हो कि अमुक व्यक्ति हमारी अत्यन्त आलोचना-निन्दा करता था, तब भी उस पर क्रोध नहीं करना चाहिए।

उस समय पूर्वकालीन महापुरूषों के क्षमा सम्बन्धी अद्‌भुत दृष्टान्तों का चिन्तन करना चाहिये, परमात्मा महावीर स्वामी की अनुपम क्षमा के प्रसंगो को बार-बार अपनी दृष्टि के समक्ष लाना चाहिये।

झेन साधु क्षमा एवं सहिष्णुता की जीवित मूर्ति तुल्य थे। भर यौवन में भी विशुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करने से उनकी ललाट तेजस्वी प्रतीत होती थी। उनके रूप एवं तेज के कारण एक युवती उन साधु पर मोहित हो गई। वह उनके समक्ष जाकर विषय-सुख प्रदान करने की याचना करने लगी।

साधु ने उसकी याचना ठुकरा दी, जिससे वह युवती क्रोधित हो गई, उसका अहंकार आहत हो गया। अत: उसने बदला लेने की ठान ली।

कुछ समय के पश्चात् उस युवती का हीं अन्यत्र विवाह हो गया। अपने पति के संसर्ग से वह गर्भवती हो गई और उसके बालक भी उत्पन्न हो गया। उस स्त्री ने उस साधु से वैर निकालने के लिये जगत् के समक्ष यह प्रचार किया कि ''मेरे बालक का पिता यह झेन साधु ही है, वह ब्रह्मचारी होने का मिथ्या बहाना करता है, वह दम्भी है।''

लोग तो मूर्ख होते हैं उन्होंने यह बात सत्य मान ली। फैलते-फैलते यह बात साधु के कानों में पहुंची। लोग उन्हें कहने लगे ''वह स्त्री आपको अपने बाल का पिता बताती है।''

तब साधु ने केवल इतना ही कहा ''हाँ, क्या यह बात है ?''

साधु ने अपने बचाव के लिये लोगों की बात का तनिक भी प्रतिकार नहीं किया, उस युवती की तनिक भी उन्होंने निन्दा नहीं की। अत: वह स्त्री अधिक उत्तेजित हुई। उसने वह बालक उस साधु के समीप ही लाकर रख दिया। साधु ने उस निर्दोष बालक का पालन-पोषण करना प्रारम्भ कर दिया।

अब तो वह स्त्री व्याकुल हो गई। ज्यों-ज्यों वह साधु को सताने का प्रयास करती गई, त्यों-त्यों वह साधु अधिकाधिक क्षमाशील होने लगा।

अन्त में उस स्त्री को अत्यन्त पश्चाताप हुआ। उसने साधु के चरणों में गिरकर क्षता याचना करते हुए कहा ''साधु महाराज! मुझे क्षमा करें। मैंने आपका घोर अपराध किया है। आपको बदनाम करने के लिये मैंने अनेक प्रयन्त किये हैं।''

तब भी साधु ने वहीं वाक्य कहा, ''अहो! क्या यह बात है?''

कैसी अद्भुत क्षमा! निन्दक का भी कोई प्रतिकार नहीं। उल्टा उसके बालक को भी पूर्ण वात्सल्य पूर्वक सहलाने की चिन्ता। जब क्षमा आत्मसात् हो जाती है तब ही इस प्रकार का धैर्य आ सकता है।

निन्दक भी हमारा उपकारी -

स्मरण रखने योग्य बात है कि निन्दक आपके जिन दुर्गुणों के लिये आपकी निन्दा करताहै, वे दुर्गुण यदि आप में हो तो उन्हें दूर करने का आपको अवसर प्राप्त होता है। इससे तो निन्दक आपका ध्यान आपकी भूलों की ओर आकर्षित करने वाला होने के कारण आपका उपकारी है।

यदि उक्त दुर्गुण आप में नहीं है तो आपको चिन्ता करने की तनिक भी आवश्यकता नहीं है। भविष्य में भी वह दुर्गुण आपके भीतर प्रविष्ट न हो जाये उसके लिये निन्दक आपको बार-बार चेतावनी देता है।

इस प्रकार निन्दक दोनों प्रकार से हमारा उपकारी है यह मानना चाहिये। इससे निन्दा के विरुद्ध प्रति-निन्दा करने की हमारी इच्छा नहीं होगी और समभाव में अवगाहन करने को मिलेगा, यह फिर विशेष लाभ होगा।

निन्दक की उपेक्षा करें -

जब कोई व्यक्ति हमारी निन्दा करे तब ''वह भूल से मेरा नाम लेता प्रतीत होता है'' - यह सोचकर उसकी ओर ध्यान ही मत दीजिये, निन्दक की उपेक्षा कीजिये।

मुझे एक चुटकला याद आया है। रमेश एवं धर्मेश यों तो दोनों गहरे मित्र थे, परन्तु किसी कारण वश उनके परस्पर ठन गई। रमेश की इच्छा धर्मेश को गालियां देने की हुई, जिससे उसने उसे फोन किया। फोन पर ही रमेश ने उसे अनेक गालियां देना प्रारम्भ किया, परन्तु धर्मेश झगड़े को बढाना नहीं चाहता था।अत: उसने कोई प्रतिकार नहीं किया, गालियों का कोई उत्तर नहीं दिया।

पूरे छः मिनट तक रमेश उसे गालियाँ देता रहा, परन्तु जब गालियों का कोई उत्तर नहीं प्राप्त हुआ तो वह तनिक व्याकुल हुआ।

उसने पूछा ''तुम हो तो धर्मेश ही अथवा कोई अन्य हो ? उत्तर क्यों नहीं देते हो ?''

तब फोन पर केवल इतना हीं सुना गया (रोंग नम्बर) गलत नम्बर हैं।''

इस पर रमेश फीका पड़ गया।

कोई भी व्यक्ति जब हमारी निन्दा करता हो तब तुरन्त ही हमें मन में बोलना चाहियें ''रोंग नम्बर'' अर्थात् यह मुझें नहीं कह रहा है, यह तो किसी अन्य को कह रहा हैं।''

यह विचार हमें निन्दा की प्रति निन्दा करने से, गाली देने वाले को गाली देने से रोकता है। इससे हम दु:खी नहीं होते। इस कारण ही यह शुभ विचार है।

तदुपरान्त जब कोई व्यक्ति गाली देता हो तब यदि हम उस गाली को स्वीकार नहीं करें तो वह गाली नहीं स्वीकार किय गये रुपये की तरह उसके पास ही पुन: जाती है।

निन्दकों को कदापि उत्तर मत दीजिये -

स्मरण रहे, निन्दकों के पाँव अत्यन्त अशक्त होते हैं। उनसे हमें घबराने की तनिक भी आवश्यकता नहीं है। यदि हम उसका प्रतिकार प्रति-निन्दा करके करेंगे तो उल्टा उसे अनुचित बल प्राप्त होगा और उसके मन में होगा कि ''अपनी बात का भी महत्व है।''

उसके बदले हमें पूर्णत मौन रहना ही हितकर है। चीखने-चिल्लाने वाला सदा थकता है, मौन रहने वाला कदापि नहीं थकता।

अत: जो जितनी निन्दा करना चाहे उसे उतनी निन्दा करने दें। हमारा तो अमोध शस्त्र है मौन। हमारा मौन ही निन्दक की हमें उत्तेजित करने की योजना को धराशायी कर देता है।

इस कारण मिथ्या निन्दाओं एवं पत्रिका-बाजी का कदापि उत्तर नहीं देना ही अनेक कुशल बुद्धिमान मनुष्यों की पद्धति होती है। यह सदा स्मरण रखने योग्य है कि मौन में जो शक्ति है वह निन्दा में कदापि नहीं है।

जो लोग उत्तम एवं धर्ममय जीवन व्यतीत करना चाहते हैं उन्हें उन तीन बन्दरों को स्मरण रखना चाहिये। पहला बन्दर मुंह पर हाथ रखकर यह बताता है कि दूसरों की निन्दा हो वैसा कदापि नहीं बोलें, दूसरा बन्दर आँखो पर हाथ रखकर बताता है कि अन्य व्यक्तियों की कुचेष्टाओं को नहीं देखें और तीसरा बन्दर कानों पर हाथ रखकर यह बताता है कि जब दूसरे लोग निन्दा कर रहे हो तब आप उसे सुने भी नहीं।

निन्दा से होने वाली अनेक हानियाँ

1. पर-निन्दा तथा स्व-प्रशंसा करने से करोड़ों जन्मों में भी नहीं छूटने वाला चिकना नीच

गोत्र कर्म बंधन होता है। मरीचि के भव में अभिमान करके भगवान श्री महावीर स्वामी की आत्मा ने भारी चिकना नीच गोत्र कर्म बाँधा था, जिसके फलस्वरूप भगवान को अस्सी दिनों तक देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि में रहना पढ़ा था।

2. निन्दक व्यक्ति के अनेक शत्रु होते हैं, जिससे सदा उसके प्राण जोखिम में रहते हैं। उसके शत्रु नित्य उसके कार्यों में पत्थर फैंकते रहते हैं, जिससे उसके कार्य में सदा अवरोध एवं गतिरोध उत्पन्न होता है।

3. निन्दा करने से हमारे स्वभाव में दुष्टता पनपती है जो कभी कभी अपने उपकारियों को भी नहीं छोड़ती।

4. निन्दा के कारण अहंकार एवं ईर्ष्या आदि की निरन्तर पुष्टि होती रहती है।

5. निन्दक स्वभाव वाला व्यक्ति वास्तव में धर्म करने के योग्य नहीं रहता।

6. आप जिस व्यक्ति की निन्दा करते हैं वह मनुष्य सुधरने के बदले अधिक वक्र बनता है।

7. जिस दुर्गुण की आप निन्दा करते हैं वह दुर्गुण आपके भीतर प्रविष्ट हो जाता है।

ऐसे ऐसे अनेक कारणों से निन्दा के पाप को जीवन में से शीघ्रातिशीघ्र तिलांजलि दे देनी चाहिये।

सातवां गुण

उचितघर

कैसे घर में रहेंगे ?

अनतिव्यक्तगुप्ते च, स्थाने सुप्रातिवेश्मि के।
अनेक निर्गमद्वार - विवर्जितनिकेतन।।

(उचित -घर)

'घर का निर्माण करना ही पाप है' यह कहने वाले जैन शास्त्रकार जहाँ 'कैसे घर में रहना ?' इस सम्बन्ध में भी उपदेश दे, वहाँ स्थूल बुद्धि से सोचने पर हम भी अकुलाने लगें।

फिर भी घर विहीन (अर्थात साधु) होने की जिनमें शक्ति नहीं है, उन आत्माओं के लिये संसार में रहने के लिये धन की तरह घर भी अनिवार्य साधन है।

तो फिर किस प्रकार के घर में रहना चाहिये जिससे हमारे सदाचार को धक्का न लगे ? हमारे धर्म-कार्य को धक्का न लगे ? हमारा जीवन कुनितियों में फँस कर दूषित कार्य न कर बैठे ?

इन समस्त प्रश्नों के उत्तम प्रसंगो को प्रस्तुत करके इस गुण के विवेचन में अनेक समाधान दिये गये हैं इस कारण ही इसका पठन-मनन अवश्य करने योग्य है।

मार्गानुसारी आत्मा का सातवाँ गुण है - उचित घर।

मार्गानुरागी आत्मा का सातवाँ गुण है - उचित घर।

सर्व प्रथम बात तो यह है कि 'घर बनाना ही नहीं' ज्ञानी पुरूषों के इस उपदेश को क्रियान्वित करना।

संस्कृत में घर के लिये 'अगार' शब्द है और साधु को 'अणगार' कहा जाता है। अणगार का अर्थ यह है कि जिसके घर नहीं है वह अणगार।

साधु को 'अणगार' क्यों कहा जाता है ?

साधु सर्व-संग के त्यागी हैं, ससांर में समस्त सम्बन्धों से मुक्त हैं, तो उन्हें 'अणगार' अर्थात 'घर बार विहीन' कहकर क्यों संबोधित किया गया ? पत्नी विहीन, पुत्रादि विहीन, धनादि विहीन न कहकर उन्हें घर-बार विहीन क्यों कहा गया ?

इसका उत्तर यह है कि 'घर' ही समस्त संसार का मूल है। यदि संसारी मनुष्य के 'घर' नहीं हो तो वह पत्नी को कहाँ रखेगा ? पुत्रादि की कहाँ सुरक्षा करेगा ? और घर-विहीन, पत्नी-पुत्रादि विहीन को धन की भी क्या आवश्यकता है ? इसका अर्थ तो यह हुआ कि 'घर' है तो सब कुछ है अर्थात घर है तो समस्त संसार है।

घर हो तो पत्नी-पुत्र आदि की सुरक्षा होती है। घर हो तो धन आदि का उपयोग सार्थक माना जाता है। घर हो तो अतिथि आदि आते हैं। इस प्रकार संसारी मनुष्य के लिये 'घर' अनिवार्य अंग माना जाता है। इस दृष्टि से ही साधु को 'घर-विहीन' अर्थात् 'अणगार' कह दिया। अत: साधु, पत्नी-पुत्र आदि विहीन, धन आदि विहीन एवं परिग्रह-विहीन स्वत: ही सिद्ध हो गये। इस प्रकार साधु के लिये 'अणगार' विशेषण सार्थक ही है।

साधु यदि 'अणगार' है तो संसारी (गृहस्थी) मनुष्य अगार-युक्त अर्थात् घर वाला है, क्योंकि साधु की अपेक्षा संसारी को घर की अत्यन्त आवश्यकता है।

जहाँ तक संभव हो, और शक्ति हो तब तक श्रावक को घर का परित्याग करके 'अणगार' बनने की भावना रखनी चाहिये, परन्तु जिस व्यक्ति की ऐसी शक्ति नहीं हो उसे तो घर बनाना, घर का निर्माण कराना ही पड़ेगा।

घर के औचित्य का उपदेश क्यों ?

तब श्रावक को घर कहाँ बनाना चाहिये और घर किस प्रकार का होना चाहिये आदि बातों को ज्ञानी पुरूषों ने मार्गानुसारी गुणों में सम्मिलित कर लिया। घर के औचित्य का उपदेश देने के पीछे शास्त्रकारों का यही शुभ आशय रहा है कि घर का ऐसे स्थान पर निर्माण कराना चाहिये तथा ऐसे प्रकार का घर निर्माण कराना चाहिये जिससे जीवन में उत्तरोत्तर धर्म की आराधना में अभिवृद्धि होती रहे और आत्मा अधर्म में से अधिकाधिक दूर हटती चली जाये।

अबकिस प्रकार का घर 'उचित' कहलाता है उस विषय में हम विचार करते हैं।

1. अनेक द्वार युक्त अथवा एक ही द्वार युक्त न हो -

आवागमन हेतु, अनेक द्वार वाला घर नहीं होना चाहिये। यदि आवागमन के लिये अनेक द्वार हो तो हमसे अज्ञात चोर-लुटेरों आदि दुष्ट लोगों को चोरी करने के सुअवसर प्राप्त हो जायें। वे कहीं से प्रविष्ट हो जायें और कहीं से बाहर निकल जायें, जिसका हमें पता नहीं रहेंगा। तदुपरान्त कभी स्त्रियों के शील को भी खतरा उत्पन्न हो सकता है, क्योंकि कोई दुष्ट-दुराचारी व्यक्ति स्त्रियों के शील आदि भंग करके कहीं होकर गुप्त रीति से भाग सकते हैं।

उपर्युक्त दोनों कारणों से घर के अनेक द्वार नहीं होने चाहिये।

हमारे मन सामान्यतया निमित्तवासी हैं। यदि जीव को शुभ निमित्त प्राप्त हो जायें तो वह शुभ कार्यों में भी लग सकता है और यदि उसे अशुभ निमित्त प्राप्त हो जाये तो उसे अशुभ क्रियाओं की ओर प्रवृत्त होने में विलम्ब नहीं लगेगा।

घर के अनेक द्वार होने से उत्तम घर की स्त्रियों की भी मनोवृत्ति कभी पाप करने की ओर आकर्षित हो जाती है। प्राचीन समय में राजाओं के भव्य प्रसादों में अनेक द्वार हाते थे और अनेक अनेक रानियाँ होती थी, जिससे काम-वासना से अतृप्त रानियाँ महावत, सेवक, चाकर आदि अन्य निम्न श्रेणि के पुरूषों के सम्पर्क में आकर अपना सतीत्व नष्ट करती थी। उन्हें इस प्रकार की अनुकूलता प्रदान करने में महल के (घर के) अनेक द्वार सहायक बनते थे।

इस दृष्टि से ही ज्ञानी पुरूष घर के अनेक द्वार नहीं होने की बात कहते हैं जो सर्वथा उचित हे।

निमित्तवासी फिर भी ब्रह्मचारी रामकृष्ण -

निमित्त प्राप्त होने पर भी उससे अलिप्त रहने वाले पुरूष विश्व में विरले ही होते हैं। स्वामी विवेकान्द के गुरू स्वामी रामकृष्ण परमहंस परम निष्ठावान् ब्रह्मचारी थे।

उन्होंने शारदामणी नामक स्त्री के साथ विवाह किया था, परन्तु विवाह के दिन ही संध्या के समय उन्होंने शारदामणी की माँ के रूप में पूजा कर ली थी। उस दिन से वे उसे 'माता शारदामणी देवी' के नाम से सम्बोधित करते थे।

शारदामणी के हृदय में भी निर्मल, विशुद्ध प्रेम था। राम-कृष्ण के द्वारा स्वयं को विषय-सुख प्राप्त हो, काम-वासना तृप्त हो उसकी लेश मात्र भी अपेक्षा रखे बिना उसने उनकी सेवा करने का ही व्रत ले लिया था। और इस कारण ही वे दोनों 'आदर्श पति एवं पत्नी विवाह के दिन से ही सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन अत्यन्त ही सहज भाव से करते थे।

एक दिन शिवनाथ नामक व्यक्ति ने अपने मित्रों के समक्ष रामकृष्ण की अत्यन्त आलोचना की 'इस प्रकार किसी स्त्री का जीवन नष्ट कर डालना रामकृष्ण के लिये तनिक भी शोभनीय नहीं है।''

इस पर रामकृष्ण ने शिवनाथ को बुला कर कहा 'शिवनाथ' तु मेरी आलोचना करता है, परन्तु तू यह बात अच्छी तरह नहीं जानता। हम दोनों के लिये अब ब्रह्मचर्य-पालन इतना सहज हो गया है कि अब वासना की ओर मुड़ना हमारे लिये पूर्णत: कठिन है। अब्रह्म के लिये आवश्यक काम-वासना हम दोनों में से सर्वथा विलीन हो गई है।'

सहज ब्रह्मचारी दम्पति के चरणों में शिवनाथ का मस्तक भावपूर्वक नत हो गया।

स्त्री रूपी प्रबल निमित्त के समीप रहने पर भी सहज ब्रह्मचर्य तो राम कृष्ण जैसे विरले ही पाल सकते हैं। अन्यथा सामान्यतया जीव अशुभ निमित्त प्राप्त होते ही पतन की ओर उन्मुख हो जाते हैं।

अत: शील, सतीत्व आदि की रक्षा के लिये विरोधी अधिक द्वार रूपी कुनिमित्तों से घर को दूर रखना चाहिये। जिस प्रकार घर के अनेक द्वार नहीं होने चाहिये, उसी प्रकार के घर के केवल एक ही द्वार भी नहीं होना चाहिये।

क्योंकि यदि केवल एक ही द्वार हो तो अग्नि आदि लगाने पर उसमें से निकल कर बचना भी कठिन हो जाता है।

2. अशुद्ध स्थान पर घर नहीं होना चाहिये -

घर का निर्माण उचित स्थान पर कराना चाहिये। जिस भूमि में हड्डियां आदि गड़ी हुई हो, वहां घर का निर्माण नहीं कराया जाता, क्योंकि ऐसी अशुद्ध भूमि में रहने से सुख एवं शान्ति नष्ट हो जाती है।

जहाँ घास, पौधे एवं अन्य प्रशस्त वनस्पति उगती हो तथा जहाँ की मिट्टी सुगन्धित हो, श्रेष्ठ हो वहाँ घर का निर्माण कराया जा सकता है।

जहाँ स्वादिष्ट जल निकलता हो, जहाँ निधान आदि होने की सम्भावना हो अथवा पहले कभी निधान आदि निकले हों वे स्थान शुभ जाने जाते हैं। ऐसे स्थानों पर घर का निर्माण काराना चाहिये।

3. घर अत्यन्त प्रकट अथवा अत्यन्त गुप्त नहीं होना चाहिये -

अत्यन्त प्रकट (खुले) स्थान में घर नहीं होना चाहिये। अत्यन्त प्रकट का अर्थ यह है कि जिस के आसपास में अन्य घर नहीं हो। यदि इस प्रकार का घर हो तो चोर आदि का भय व्याप्त होने पर बचाने वाला कोई नहीं मिलता, कोई सहायक भी नहीं होता।

अत्यन्त गुप्त स्थान में भी घर नहीं होना चाहिये अर्थात् अत्यन्त भीड़-भाड़ में घर नहीं होना चहिये, क्योंकि उस घर की शोभा प्रतीत नहीं होती और अग्नि आदि का प्रकोप होने पर बाहर निकलने में भी अत्यन्त कठिनाई होती है।

4. उत्तम पड़ोस में घर होना चाहिये -

जहाँ उत्तम प्रकार के लोग रहते हो ऐसे पड़ोस में घर का निर्माण कराना अत्यन्त महत्वपूर्ण बात है। यदि आपके निवास के आस-पास रहने वाले पड़ोसी उत्तम व्यवहार, उत्तम स्वभाव और धर्म के प्रति रूचि वाले नहीं हो तो आपके और आपकी सन्तान के जीवन में विपरीत संस्कार उत्पन्न होने की सम्भावना में वृद्धि हो जाती है।

पूर्वोक्त तथ्य के अनुसार हमारा जीव निमित्तवासी है। इसे बुरे निमित्त प्राप्त होने पर वह बुरा होता जाता है। और यदि इसे उत्तम निमित्त प्राप्त हो जाये तो यह उत्तम भी हो सकता है।

पड़ोसी के संस्कारों का सन्तानों पर प्रभाव -

पड़ोसी के सुसंस्कारों एवं कुसंस्कारों का अत्याधिक प्रभाव सन्तानों पर होता प्रतित होताहै। वर्तमान काल में विशेषतया बम्बई जैसे बड़े शहरों में कोस्मोपोलिटन्ट भवनों में एक फ्लैट में कोई जैन रहता हो तो उसके समीपस्थ फ्लैट में कोई मुसलमान रहता होगा और उसके दूसरी ओर कोई महाराष्ट्रीय अथवा तमिल परिवार रहता होगा। इन समस्त प्रकार के परिवारों के संस्कारों का मिश्रण आपकी सन्तान में अवश्य होता है।

माता-पिता आदि वयस्क व्यक्ति तो कदाचित् संयम रख सकें, परन्तु बालकों को आप कब तक रोकेंगे ? आपका छोटा बच्चा आपके पड़ोसी मुसलमान के घर जाकर भी कोई मांसाहारी वस्तु चखकर आ जाये तो क्या आपको सहन होगा ? यदि आप बालक को पड़ोसी मुसलमान के घर जाने से रोकेंगे तो कदाचित उस पड़ोसी को बुरा भी लग सकता है ''क्या हम नीच जाति के मनुष्य हैं ? आप छोटे बच्चों को हमारे घर आने से क्यों रोकते हैं ?'' इस प्रकार की बात उसके मन में आयेगी। इसकी अपेक्षा ऐसे पड़ोस में फ्लैट लेना ही नहीं यही उत्तम है।

कदाचित् पड़ोसी मुसलमान न होकर वैष्णव ब्राह्मण आदि हो और यदि आप कन्दमूल आदि नहीं खाते हों, परन्तु आपके बालक उस पड़ोसी के घर बार-बार जाते-आते होने से आलू, प्याज, लहसन आदि खा जाने की पूर्ण सम्भावना है।

ऐसी परिस्थिति में संस्कार बनाये रखना अत्यन्त ही कठिन हो जाता है। अत: यथा सम्भव जैन लोगों को जैन एवं अपने ही गच्छ अथवा सम्प्रदाय को मानने वाले पड़ोसी हो ऐसा ही घर पसन्द करना चाहिये। यदि इस प्रकार का जैन पडोसी उपलब्ध न हो सके तो वैष्णव अथवा ब्राह्मण जैसे शुद्ध शाकाहारी मनुष्यों का ही पड़ोस खोजना चाहिये। जैन पड़ोसी खोजने में कदाचित् अन्य कोई अनुकूलता अथवा सुविधा प्राप्त न भी हो तो चला लेना चाहिये, परन्तु जैन आदि का उत्तम पड़ोस *प्राप्त करने का ही प्रयास करना चाहिये।*

जैन बालिका का वैष्णव के साथ प्रणय -

भक्ष्य-अभक्ष्य विषयक खान-पान की शुद्धि बनाये रखने के लिये जिस प्रकार जैन आदि का पड़ोस महत्वपूर्ण है, उसी प्रकार से उससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात ध्यान देने योग्य है। इस

कारण भी वर्तमान समय में जैन लोगों को जैन पड़ोस का ही विशेष आग्रह रखना चाहिये।

बम्बई शहर की एक बस्ती के निवासी एक परम श्रद्धालु एवं आग्रगण्य जैन श्रावक परिवार की संस्कारी बालिका अपने ही पड़ोसी वैष्णव युवक के प्रेम में पड़ गई। दोनों का सम्बन्ध विशेष रूप से दृढ हो ता चला गया। उस किशोरी ने अपने प्रेमी वैष्णव युवक के साथ ही विवाह करने के दृढ निश्चय को अपने पिता के समक्ष प्रस्तुत किया।

पिता ने पुत्री को वैष्णव युवक के साथ विवाह नहीं करने के लिये अत्यन्त समझाया, परन्तु जब पुत्री किसी भी तरह नहीं मानी तब अन्त में पिता को पुत्री की इच्छा स्वीकार करनी पड़ी।

उस जैन बालिका का वैष्णव युवक के साथ विवाह हो गया। उस बालिका के सद्भाग्य से वह वैष्णव युवक समझदार होने से उसने अपनी जैन पत्नी को अपने धर्म के नीति-नियमों को पालन करने की अनुमति दे दी, परन्तु सभी मनुष्यों को तो ऐसा पात्र नहीं प्राप्त होता। फिर कैसी दशा होगी ? अथवा तो बालिका को अपने जैन आचारों का परित्याग करना पड़े या पति के साथ नित्य संघर्ष करने से विवाहित-जीवन क्लेशमय हो जाये।

जैन कन्या एवं वैष्णव पति से उत्पन्न सन्तानों में संस्कारों की संकीर्णता तो रहेगी ही। वे न तो पूर्णत: जैन हो सकेंगे और न पूर्णत: वैष्णव। यह परिस्थिति उत्पन्न ही नहीं होने देने के लिये अपने आचार-विचार एवं धर्म के अनुकूल हो ऐसे पड़ोस वाला घर ही पसन्द करना हितकर होगा।

जैन कन्या के मुसलमान युवक के साथ प्रेम का करूण अन्त -

एक अन्य प्रसंग है। महाराष्ट के एक गांव में एक कट्टर जैन श्रावक की पुत्री का समीप ही रहने वाले एक मुसलमान युवक से परिचय हुआ। माता-पिता से अज्ञात उक्त परिचय में वृद्धि होती गई और अन्त में वह परिचय प्रणय में परिवर्तित हो गया।

पुत्री के इस प्रेम-सम्बन्ध के विषय में जब माता-पिता को ज्ञात हुआ तब उन्हें भारी आघात लगा। उन्होंने पुत्री से उस मुसलमान युवक से मिलने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। फिर भी वह गुप्त रूप से कभी-कभी उस युवक से मिलती रहती और कामावेश में वह उस युवक के हाथों अपना शील भी खो बैठी।

फिर तो उस कन्या ने दृढ निश्चिय कर लिया कि 'यदि विवाह करूँगी तो उस मुसलमान युवक से ही करूंगी।'' उसने अपना निर्णय माता-पिता के समक्ष निवेदन कर दिया। माता-पिता ने भी उसे स्पष्ट कह दिया ''यदि तेरा निर्णय अन्तिम है तो तु इस घर से चली जा। हम यहीं मान लेंगे कि हमारे कोई पुत्री थी ही नहीं।''

और वह कन्या घर त्याग कर चल दी और पहुंच गई उस अपने प्रेमी मुसलमान के पास। परन्तु वहां परिस्थिति में परिवर्तन हो गया। उस मुसलमान युवक ने तो स्पष्ट कह दिया ''मुझे तो तेरे साथ शारीरिक आनन्द लेने में ही रूचि थी। मैं तेरे साथ कदापि विवाह करने वाला नहीं हूँ, क्योंकि मैं

तो कट्टर मुसलमान हूँ। तेरे जैसी नायक (अपवित्र) लड़की के साथ मैं विवाह कैसे कर सकता हूँ।''

अब तो उस कन्या पर मानो बिजली गिर पड़ी। वह आहत हो गई। अन्त में उसने अपनी देह पर केरोसीन छिड़ककर अग्नि-स्नान करके अपने जीवन का अन्त कर दिया।

इस सम्पूर्ण प्रसंग पर हम तनिक गहराई से यदि विचार करें तो हमें ज्ञात होगा कि इस दुःखद घटना का मूल अनुचित पडोस ही था। यदि मुसलमान का पडोस नहीं होता तो इस प्रकार की घटना का सृजन, सूत्रपात ही नहीं होता।

घर बसाते समय पूर्णतः जाँच करें -

अतः योग्य स्थान पर ही घर बसाना चाहिये। एक बार घर लेने के पश्चात् बार-बार तो उसे बदला नहीं जा सकता। अतः घर खरीदते समय अथवा निर्माण कराते समय पूर्णतः जाँच कर लेना अत्यन्त ही आवश्यक है।

अपनी सन्तान को आपको ऐसी शिक्षा देनी चाहिये और उनमें ऐसे संस्कार डालने चाहिये कि जिससे वे संयम दीक्षा के मंगल-पथ पर ही प्रयाण करें। यदि दुर्भाग्यवश वे दीक्षा का मार्ग नहीं अपना सकें तो उनका विवाह उत्तम संस्कारी एवं जैन परिवार में ही हो, यह तो आप भी चाहते ही होंगे। तब ही उनमें और उनकी भावी सन्तानों में जैनत्व के संस्कार बने रह सकते हैं।

इसके लिये उत्तम जैन पड़ोसी होना अत्यन्त आवश्यक है। पापोदय से कदाचित आपकी सन्तान किसी युवक अथवा युवती के परिचय में आ जाये और परिणाम स्वरूप उन्हें परस्पर विवाह करना पड़े तो पात्र जैनत्व के संस्कारों से युक्त तो प्राप्त होगा। यदि आपका पड़ोसी महाराष्ट्रीय अथवा मुसलमान हो तो आपके पुत्र अथवा पुत्री का भविष्य कितना भयावह एवं अंधकारमय सिद्ध होगा, उसकी तनिक कल्पना करें।

उत्तम पड़ोसी सत्कार्यों की प्रशंसा करता है -

दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि यदि पड़ोसी उत्तम होगा तो अपने उत्तम कार्यों की उसके द्वारा प्रशंसा होगी तो अपने उत्तम कार्यों को गति मिलेगी, हमें अधिक उत्तम कार्य करने का प्रोत्साहन प्राप्त होगा।

यदि पड़ोसी बुरा हो, जैन नहीं हो, स्वभाव से धर्म-विहीन हो तो हमारे धार्मिक एवं शुभ कार्यों की प्रशंसा नहीं करेगा अथवा कभी निन्दा-आलोचना भी करेगा, जिससे हमारे उन शुभ कार्यों को विपरीत दिशा की ओर ले जायेगा तो आत्मा का अत्यन्त अहित हो जायेगा।

मम्मण का पूर्व भव -

मम्मण सेठ पूर्व भव में अत्यन्त उल्लास पूर्वक मुनिवर को केसरिया लड्डू वहेराये (समर्पित किये)। मुनिवर के जाने के पश्चात् वहाँ कोई पड़ोसी मिलने के लिये आया। उसने पूछा 'क्यो सेठ। लड्डू आपने खाया अथवा नहीं?''

मम्मण के जीव ने कहा ''नहीं, मैंने लड्डू तो सब मुनिवर को अर्पित कर दिये।''

तब उस पड़ोसी ने कहा ''अरे सेठ। आप भी पूर्णत: मूर्ख हैं। सिंह केसरिये लड्डू क्या मुनिवर को अर्पित कर दिये जायें ? और वे भी सबके सब अर्पित कर दिये जायें क्या ? आपको अपने लिये भी कम से कम एक लड्डू तो रखना था ? यदि आपने खाया होता तो जीवन भर स्मरण रहता।''

मम्मण के जीव कने कहा, पर अब क्या हो ?

तब उस पड़ोसी ने डिब्बे में चिपके हुए लड्डू के दो-चार कण मम्मण के जीवन को चखाये। उन्हें चखकर सेठ प्रसन्न हो गये। सेठ ने कहा ''अत्यन्त स्वादिष्ट, ऐसा लड्डू तो मैंने जीवन में कदापि नहीं चखा।''

तब पड़ोसी बोला '' तो फिर क्या सोच रहे हैं ? जाइये, अभी मुनिवार मार्ग में ही होंगे। आप द्वारा अर्पित लड्डू मुनिराज से पुन: लेकर आ जाओ।''

और सेठ लड्डु वापिस लेने के लिये मुनिराज के पीछे भागे। सेठ का पड़ोसी कैसा था ? वह अत्यन्त ईर्ष्यालु स्वभाव का था। ''मुझे प्राप्त न हो तो कोई बात नहीं, परन्तु मुनिराज को तो खाने नहीं दूंगा।'' इस प्रकार की अधम मनोवृत्ति थी उस पड़ोसी की।

उसने सेठ के शुभ कार्य में घास झौंकने का कार्य किया। शुभ भाव की अनुमोदना करना अमूल्य संस्कार है। उसने उसमें दिया सलाई लगाने का कार्य किया।

इस पड़ोसी के बदले आदि कोई उत्तम संस्कार युक्त पड़ोसी होता तो ? तो वह सेठ के सत्कर्म की अनुमोदना करता ''सेठ। आप कैसे भाग्यशाली हैं ? आपको सिंह केसरी लड्डू मुनिवर को अर्पित करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। आपके पुण्य का क्या बखान करूं ? सचमुच आपने अत्यन्त उत्तम कार्य किया है।''

यदि इस प्रकार की अनुमोदना करने वाला कल्याण-मित्र पड़ोसी मिला हो तो कदाचित् पूर्व भव का वह सेठ मम्मण नहीं बनता और धन की मूर्च्छा के पाप से सातवी नरक का अतिथि भी नहीं बनता, उनका इतिहास कुछ भिन्न ही लिखा जाता।

हमारे शुभ भावों को परिपुष्ट करने वाला एवं धर्म-कार्यों में प्रोत्साहन देने वाला कल्याण-मित्र प्रबल पुण्योदय से ही प्राप्त होता है। शुभ भावों का नाशक एवं अधर्म के कार्यों का प्रेरक पाप-मित्र घोर पापोदय से प्राप्त होता है।

मम्मण का जीव वह सेठ लड्डू वापिस लेने के लिये मुनिराज के पीछे भागा। अन्त में मुनिराज मिले तब उसने उन्हें कहा ''मेरे लड्डू मुझे पुन: दे दीजिये।''

मुनिराज ने काह ''वे लड्डू तो आपने मुझे अर्पित कर दिये। अब मैं वे वापिस नहीं दे सकता।''

परन्तु वह सेठ तो जिद्द पर था, ''मुझे अपने लड्डू वापिस ही चाहिये।''

समर्पित वस्तु पुन: नहीं दी जा सकती, ऐसा हम साधुओं का आचार है। मुनिराज समझ गये कि यह सेठ अब मानने वाला नहीं है। अत: उन्होंने नीचे झुककर लड्डुओं को रेत के साथ मिला कर नीचे डाल दिये।

सुकृत की निन्दा से निकृष्ट अनुबंध -

सेठ के हृदय में अपार दु:ख हुआ। वे पुन: आ गये परन्तु उनके मन में निरन्तर एक ही विचार आता रहा। अररर। मैं कहाँ मुनिवार से लड्डू अर्पित करने को हुआ ? मैंने अत्यन्त बुरा किया।''

इस प्रकार बार-बार सुकृत की निन्दा के कारण निकृष्ट अनुबंध पड़ गया। लड्डुओं के दान-धर्म के प्रभाव से उसके पश्चात् के मम्मण के भव में उसे ऋद्धि तो इतनी अपार प्राप्त हुई कि मगध का राजा श्रेणिक ऋद्धि देखकर आश्चर्य चकित हो गया। परन्तु सम्पत्ति की भयानक आसक्ति के कारण तेल और चौले खाने के अतिरिक्त उसके भाग्य में अन्य कुछ न रहा ओर उसी आसक्ति के कारण वह मम्मण मरकर सातवीं नरक में गया।

मम्मण के जीव के अध:पतन का कारण था उसका बुरा पड़ोसी जिसने मम्मण के पूर्वभव के सुकृत में आग लगाकर उस के शुभ भावों का अन्तकर दिया तथा अपने सत्कर्म की अनुमोदना करने के बदले निन्दा करके सातवी नरक में जाने के योग्य पाप कर्म का उपार्जन किया।

'वज्जिजा अधम्मंमित्त जोगो' - अधर्म-मित्र का परित्याग करना चाहिये। ऐसे पंच सूत्रकार परमर्षि के उपदेश में गर्भित रीति से यह भी समझ लेना चाहिये कि 'जहाँ अधार्मिक लोग बसते हो, उस स्थान का भी परित्याग करना चाहिये।'

इस कारण जहाँ मांसाहारी, दुराचारी, व्यसनी, जुआरी और हिंसक मनुष्य बसते हों उस स्थान पर घर नहीं लेना चाहिये, यह अत्यन्त उचित है।

यदि हमारा पड़ोसी धार्मिक एवं सुसंस्कारी होगा तो हमारे और हमारे सन्तानों के जीवन में उत्तम संस्कार डालना सरल हो जायेगा।

शालिभद्र का पूर्व भव -संगम -

शालिभद्र का जीव पूर्व भव में संगम नाम ग्वाला था। एक दिन किसी उत्सव के कारण समस्त लोगों के घरों में उत्तम-उत्तम मिठाईयाँ बनती हुई देखकर उसने भी अपनी माता के समक्ष हठ की ''माँ। मुझे खीर खानी हैं।'' उसकी माता अत्यन्त निर्धन थी। उसके पास खीर बनाने के लिये पैसे नहीं थे। अत: वह पुत्र को पीटने लगी। पड़ोसियों ने पूछा 'बाई तु अपने पुत्र को पीटती क्यों हैं ?''

वह बोली- नहीं पीटू तो क्या करूं ? इसे खीर खानी है और मेरे पास उतने पैसे नहीं हैं।'' दयालू पड़ोसियों ने उसे थोड़े-थोड़े चावल और शक्कर दी, दूध भी दिया। माता ने खीर बना दी और संगम को खाने के लिये खीर देकर वह बाहर चली गई। संगम खीर खाने बैठा परन्तु खीर अधिक गर्म होने के कारण वह उसे ठण्डी करने लगा। इतने में मासक्षमण के तपस्वी मुनि मासक्षमण के पारणे के

लिए 'धर्मलाभ' की घोषणा करते हुए उसके घर पर आहार लेने के लिये आये।

बस, संगम आनन्द-विभोर हो गया। 'अहो! मेरा कैसा अहो भाग्य कि मेरे आंगन में तपस्वी मुनिराज का पदार्पण हुआ। लो, मैं यह खीर मुनिराज को अर्पित कर दूं।

तनिक सोचें - ग्वालन का पुत्र, खीर खाने की उत्कट इच्छा, रो रोकर जीवन में प्रथम बार खीर प्राप्त की है, फिर भी मुनिराज को वह खीर अर्पित कर देने की उसकी इच्छा क्यों हुई ?

इसका उत्तर है - आसपास में निवास करने वाले उत्तम जैन पड़ोसियों के आवासों पर मुनिराजों को गोचरी के लिये आते-जाते वह देखा करता था। जैनों के बालकों के साथ रहते-रहते उसमें भी उत्तम संस्कार जागृत हुए थे। जैन मुनियों के प्रति उसके हृदय में श्रद्धा-भक्ति थी।

इस प्रकार उच्च कोटि के पड़ोसियों के कारण प्राप्त उच्च संस्कारों ने उसके मन में मुनिराज को खीर अर्पित करने की सद्-भावना जागृत कर दी और उत्तम भावोल्लास में संगम ने मुनिवर को समस्त खीर अर्पित कर दी।

मुनि को खीर अर्पित करने के पश्चात् भी वह स्व कृत सत्कर्म की निरन्तर अनुमोदना करता रहा। उसी रात्रि में उसका निधन हो गया। उस समय भी मृत्यु की पारावार वेदना के समय भी उसका अन्तर सतत् सुकृत की अनुमोदना में झूलता रहा और मरणोपरान्त वह गोभद्र सेठ के पुत्र शालिभद्र के रूप में उत्पन्न हुआ।

मम्मण सेठ एवं शालिभद्र दोनों के पूर्व भवों के प्रसंगों का चिन्तन करने से ज्ञात होगा कि जीवन में पड़ोस का कैसा ओर कितना महत्व है ? मम्मण के पूर्व भव में प्राप्त दुष्ट पड़ोस ने सुकृत की निन्दा करने के लिये छोड़ दिया, जबकि संगम को प्राप्त उत्तम पड़ोस के कारण उसमें मुनि को दान देने की उत्तम भावना जागृत हुई। सुकृत की अनुमोदना करने से वह उत्तम धर्म परम्परा का स्वामी बना।

शुभ आलम्बन के बिना सद्गुण नहीं ठहरते -

जीव को जिस प्रकार के निमित्त अथवा आलम्बन प्राप्त होते हैं वैसा ही प्राय: जीव बन जाता है। इस कारण ही जीवन में शुभ आलम्बनों का अत्यन्त ऊँचा मूल्य है। शुभ आलम्बनों के बिना सद्गुणों की प्राप्ति दुर्लभ है, प्राप्त हो जायें तो उन्हें स्थायी रखना दुर्लभ है और कदाचित् स्थायी रह जायें जो भी उनकी वृद्धि करना कठिन है।

अत: शुभ आलम्बन युक्त स्थान में घर लेने का आग्रह रखना आवश्यक है। अनेक समझदार मनुष्य नवीन घर लेते समय ध्यान रखते हैं। इसके कारण वे पचास हजार अथवा लाख रूपये अधिक व्यय करने के लिये भी तत्पर रहते हैं और यह अत्यन्त आवश्यक है। इसका कारण यह है कि जीवन में रूपयों की अपेक्षा उच्च कोटि के सद्गुणों का अत्यन्त महत्व है। रूपये तो अनेक बार प्राप्त होने वाली वस्तु है, परन्तु खोये हुए सद्गुण शीघ्र कदापि प्राप्त नहीं होते। अत: जीवन में धन को अधिक महत्व न देकर गुणों की प्राप्ति को ही अधिक महत्व देना चाहिये। इस प्रकार जहाँ गुण-प्राप्ति

सुलभ हो उस स्थान पर घर लेना चाहिये।

जहाँ निम्न स्तर की बस्ती हो उस स्थान पर घर लेने से कैसे भयंकर परिणाम होते हैं उसका एक अन्य प्रसंग प्रस्तु है।

संस्कारों की सुरक्षा हेतु पति की हत्या -

एक राजपूतानी राजपूत के साथ विवाह करके ससुराल में आई। ससुराल के आस-पास शराबी और गुण्डे रहते थे। राजपूतानी ने सोचा कि ऐसे दुष्ट लोगों के पड़ोस में निवास करने से तो कभी समस्त परिवार का नाश हो जायेगा। उसने वह घर त्याग कर किसी अन्य उत्तम स्थान पर घर लेने के लिये पति को अत्यन्त समझाया, परन्तु मूर्ख पति नहीं माना। दुष्ट संगति का परिणाम उन्हें कुछ ही समय में देखने को मिल गया। वह राजपूत भी उन शराबियों की संगति से मदिरा-पान करने लगा। वह मदिरा पान करके घर आता और नशे में अपनी पत्नी और दोनों बच्चों के साथ मार-पीट करता।

जब पति भान में होता तब वह राजपूतानी बार-बार अपने पति को घर बदलने की बात समझाती, परन्तु वह मानता ही नहीं था। एक दिन वह मदिरा के नशे में चूर था। उसकी पत्नी ने उसे हाथ जोड़कर निवेदन किया ''अपने बच्चों के लिये ही सही, आप मदिरा की आदत छोड़ दीजिये। आप समस्त परिवार के आधार हैं। यदि आप ही इस प्रकार अपना जीवन नष्ट कर दोगे तो इन बच्चों का क्या होगा?''

इस प्रकार कहती हुई पत्नी फूट-फूट कर रोने लगी। इस प्रकार की अनुनय-विनय का प्रभाव होना तो दूर रहा, उल्टा उसका पति उस पर अत्यन्त क्रोधित हुआ। उसका क्रोध उसके वश में नहीं रहा।

उसने अपनी पत्नी को इतना पीटा की वह लहुलूहान हो गई। तत्पश्चात् वह शराब के गोदाम पर जाकर पुन: मदिरा पीकर नशे में धुत हो गया। नशे ही नशे में उसने बाहर आकर एक सेठ के पुत्र की हत्या कर दी।

देखा, पतन की कैसी खरतनाक परम्परा! इस सबका मूल कारण शराबी लोगों का पड़ोस। ऐसे पड़ोस की अपेक्षा करने से राजपूत के जीवन का सर्वनाश होने लगा।

विनाश और आगे बढा। उस मदिरा के नशे में चूर राजपूत को सिपाहियों ने अपनी गिरफ्त मे ले लिया। सेठ ने उसे कारागार में बन्द करा दिया। इस ओर वह राजपूतानी अपने पति के कुकृत्य से अत्यन्त आहत हो गई। उसके बालकों में ये कुसंस्कार प्रविष्ट न हो जायें इस कारण उसने वह घर बदल दिया। उसने नया घर उत्तम पड़ोसियों के पास लिया और वह अपने बच्चों में सुसंस्कार भरने लगी।

एक रात्रि में उसका पति कारागार से भाग निकला और अपना नूतन घर खोजते-खोजते

वह वहाँ पहुंच गया और द्वार खटखटाने लगा। राजपूतानी ने भीतर से पूछा -कौन है?

राजपूत ने कहा ''मैं तेरा पति हूँ। आज रात्रि में मुझे घर में रहने दे। उस नालयक सेठ ने मुझे कारागार में डलवाया। अब उसका मैं कल ही वध करके यहाँ से भाग जाऊँगा।'' राजपूतानी ने कहा ''नहीं, ऐसा नहीं होगा। आपके ये बच्चे आपके समान हत्यारे न बन जायें, अत: मैं इन्हें सदाचार की शिक्षा देती हूँ और आप यहाँ आकर ऐसे अपकृत्य करके उस पर पानी फेरना चाहते हो ? कृपा करके आप इन बालकों के खातिर ही सहीं, यहाँ से चले जाओ।''

पति नहीं माना। वह बलपूर्वक घर में प्रवेश करने लगा, तो राजपूतानी खड़ी हो गई। उसने पति के चरण स्पर्श करने के बहाने नीचे झुककर धड़ाधड़ बन्दूक से तीन गोलियां दागकर पति की हत्या कर दी।

गोलियों के धमाके से नींद में सोये हुए बालक जाग गये और उन्होंने पूछा ''माँ! क्या हुआ?'' माता ने उत्तर दिया-पुत्रों। ये कोई लुटेरा अपना संस्कार-धन लूटने के लिये आया था। अत: मैंने उसका काम तमाम कर दिया।''

आर्यदेश की सन्नारी ऐसी होतीहै। वह संस्कारों की सुरक्षा के लिये अवसर पड़ने पर अपने सुहाग की बलि देने में भी नहीं हिचकिचाती। मूल बात तो यह है कि यइ सम्पूर्ण दु:खद परिस्थिति का मूल दुष्ट मित्रों का पड़ोस था। उस पड़ोस ने ही राजपूत के जीवन का विनाश कर दिया।

चाली एवं पालों का निवास श्रेष्ठ था -

वर्षों पूर्व अहमदाबाद, बम्बई जैसे शहरों में लोग चालियों में रहते थे, पालों में रहते थे। (आज भी मध्यम वर्ग के अनेक लोग पालों एवं चालियों में रहते हैं।) इससे अनेक लाभ थे। सामान्यतया मदिरा, मांस, जुआ आदि पापों से लोग बच जाते क्योंकि उन्हें पड़ोसियों से भय रहता था। समाज के भय से भी मनुष्य पाप करने से डरे यह भी उत्तम ही है। चालियों तथा पालों में पड़ोसी अच्छे मिलते थे, जिससे वे एक दूसरे के सुख-दु:ख में साथ देते थे, मृत्यु आदि के समय सान्तवना देते, उन्हें सहायता और सद्भाव प्रदान करते थे। पड़ोसी श्रेष्ठ होते तो बालकों के धर्म के संस्कार एवं प्रेरणा प्राप्त होती थी। पड़ोसी का लड़का सामायिक करने जाता तो दूसरा बालक भी सामायिक करने के लिये जाता। इस प्रकार देखा-देखी भी उन्हें धर्म के संस्कार प्राप्त होते थे। स्त्रियों के शील आदि की भी वहाँ सुरक्षा होती थी। कौन आता है ? कोन जाता है ? उसका पड़ोसियों को भी ध्यान रहता था, जिससे स्वाभाविक तौर से ही सदाचार बना रहता था। वहाँ साधु-मुनिराज भी गोचरी के लिये आते, जिससे उन्हें सुपात्रदान का भी अवसर प्राप्त होता था।

सोसायटी एवं ब्लॉकों का निवास हानिकारक -

वर्तमान धनी लोग सोसायटियों और फ्लैटों में रहने लग गये हैं जो शहर से अत्यन्त दूर रहते हैं। अत: साधु भगवन्त इतनी दूरी पर गोचरी ग्रहण करने के लिये आ नहीं सकते। कदाचित् आ

जायें तो भी बंगले के बाहर 'कुत्ते से सावधान' की तख्ती पढ कर पुन: लौट जाते हैं। ब्लॉक अथवा फ्लैट के द्वार तो बंद ही रहते हैं। साधु भगवंत के आगमन की खबर तक नहीं पड़ती।

द्वार बन्द रहने के कारण पड़ोसियों से भी सम्पर्क प्राय: नहीं हो पाता। अरे, बम्बई में तो ऐसे मनुष्य भी निवास करते हैं कि जिन्हें अपने ही नीचे के फ्लेट में कौन रहता है वे वहाँ वर्षों से रहने पर भी पता ही नहीं है। ऐसी स्थिति में सुख-दु:ख में पडोसी की सहायता की अपेक्षा ही कैसे की जा सकती है ? द्वार खटखटा कर अथवा घंटी बजाकर, अचानक फ्लेट में प्रविष्ट होकर, स्त्री का गला घोंट कर, बहुमूल्य सामान लूट कर दिन के समय भाग जाने की अनेक घटनाएँ बम्बई जैसे बड़े शहरों में नित्य प्राय: होती ही रहती हैं।

ऐसी स्थिति में कोई भी किसी की हत्या करके जाये अथवा स्त्री के साथ बलात्कार करके उसका सतीत्व लूट जाये तो भी क्या पता लगे ? अत: अधिक एकान्त में अथवा गुप्त स्थान में आवास नहीं रखने की ज्ञानी पुरूषों की हित-शिक्षा अत्यन्त उचित ही है, जिस पर अमल करना अत्यन्त ही हितकर है।

अत्यन्त एकान्त स्थान में आवास से हानियाँ-

अधिक एकान्त स्थान में आवास होने से कैसी हानि होती है जिसका एक प्रसंग स्मरण हो आया है। बम्बई में नेपियन्सी रोड़ के पीछे की ओर एक धनाढ्य दम्पति ने निवास स्थान लिया। उन दोनों को अत्यन्त शान्त क्षेत्र पसन्द था। शान्त स्थान के नाम पर अधिक एकान्त स्थान का उन दोनों ने चयन किया।

पति-पत्नी दोनों के पास मोटर-कार थी। प्रात: पति किसी कार्यालय में जाता और सायंकाल के समय लौटता। इतन बड़े बंगले में दोपहर के समय अकेली युवा सेठानी ही होती। एक दिन दोपहर में अचानक गाड़ी का ड्राइवर आया और किसी कार्य का बहाना बना कर उसने बंगले में प्रवेश किया। उसने भीतर आते ही मुख्य द्वार बंद करके सेठानी के साथ बलात्कार करके उसकी दुर्दशा कर दी और बंगले में से बहुमूल्य सामान लेकर चम्पत हो गया। ऐसी अनेक दुर्घटनाओं के मूल में अयोग्य स्थान पर आवास का चयन ही प्राय: कारण भूत होता है।

कुशलता से संस्कार बनाये रखने वाले सेठ-

एक करोड़पति सेठ के बंगले के समीप ही राजा द्वारा मान्य दो संगीतज्ञ आये। उन्होंने अपने मधुर कण्ठ एवं वाद्य यन्त्रों से आसपास के क्षेत्र में अत्यन्त आकर्षण उत्पन्न कर दिया। सेठ की पुत्र-वधुएँ भी प्राय: खिड़की के पास खड़ी होकर उन संगीतज्ञों के संगीत का रसास्वादन करती।

सेठ ने एक बार यह दृश्य देख लिया। उन्हें अपनी पुत्र-वधुओं के शील की चिन्ता होने लगी। उन्होंने सोचा "यदि इसी प्रकार चलता रहा तो किसी दिन पुत्र-वधुओं का शील खतरे में पड़ सकता है।" अत: उन संगीतज्ञों को वहाँ से हटाने की योजना पर वे विचार करने लगे। सोचते-सोचते

उन्हें एक उपाय सूझा।

अपने घर पर उत्पन्न पौत्र के हर्ष का कारण बताकर सेठ ने राजा को जवाहिरात से भरा हुआ थाल अर्पित किया। राजा सेठ की नम्रता आदि गुण देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसने सेठ को नित्य दरबार में आने का निमंत्रण दिया। अब सेठ प्राय: नित्य दरबार में जाता। राजा के साथ उसका गाढा सम्बन्ध हो गया। राजा ने सेठ को प्रथम से हीकह रखा था कि ''कोई भी कार्य हो तो सहर्ष कहना।''

अवसर पाकर एक दिन सेठ ने राजा को निवेदन किया ''राजन्! बहुत समय से मेरे मन में 'घर-मन्दिर' बनाने की अभिलाषा और भावना है। यदि आपकी अनुमति हो तो उक्त कार्य पूर्ण कर लूँ।'' राजा ने कहा, ''इसमें पूछने की क्या बात है ? उत्तम कार्य में तो हमारी सम्पति एवं अनुमति ही होती है।''

घर जाकर उन्होंने एक सुयोग्य कमरे में जिन-मूर्ति प्रतिष्ठित करके गृह-मन्दिर बना दिया, जिसका महोत्सव प्रारम्भ किया। इस कार्य के लिये ढोल एवं शहनाई वादकों को बुलाया गया और प्रात: से सायंकाल तक ढोल एवं शहनाई वादन का उन्हें आदेश दिया।

ढोल एवं शहनाई के स्वर जोर-जोर से गूँजने लगे। समीप ही रहने वाले संगीतज्ञ परेशान हो गये, क्योंकि ढोल और शहनाई की ध्वनि में उनके आलाप दब जाते थे। अत: उन संगीतज्ञों ने राजा के समक्ष जाकर सेठ के विरुद्ध शिकायत की।

राजा ने सेठ को बुलाकर संगीतज्ञों की शिकायत के सम्बन्ध में उससे बात की। सेठ ने निवेदन किया ''राजन। मैंने आपकी अनुमति लेकर जिन-मन्दिर बनाया है और जहाँ मंन्दिर होता है वहाँ ढोल, नगारे आदि तो बजेंगे ही नं ?''

राजा ने कहा - ''सेठ। कोई बात नहीं।आपको घबराने की कोई बात नहीं है। आप सहर्ष भगवान की भक्ति करें। मैं इन संगीतज्ञों का निवास स्थान बदल देता हूँ।'' राजा की आज्ञा से संगीतज्ञों का निवास-स्थान बदल दिया गया। सेठ के हृदय में शान्ति हो गई। उनकी पुत्र-वधुओं के शील-भंग का भय टल गया।

उपद्रव युक्त स्थान में, चाहे जैसे पड़ोस में, चाहे जैसे घर में (आवास में) शील एवं सदाचार जोखिम में ही रहता है। उनका निवारण करने के लिये सेठ की तरह कुशलता पूर्वक उपाय करना चहिये।

5. गृह-श्रृंगार संस्कार पोषक -

घर के भीतर श्रंगार एवं सजावट भी विकारोत्तेजक नहीं होनी चाहिये। अनुचित एवं अश्लील दृश्यों, अभिनेता एवं अभिनेत्रियों के चित्रों, विकारोत्पादक चित्रों आदि से अपने आवास को नहीं सजाना चाहिये। केलेण्डर, फर्नीचर एवं 'शो-केस' आदि भी धर्म की ओर प्रेरित करने वाले

होने चाहिये।

आज भी अनेक श्रावकों के 'शो-केसों में तोता, मैना एवं कप-रकाबी रखने के बदले रजोहरण, पात्रा, चरवला, कटासणा, ज्ञान के साधन और पुस्तकें दृष्टिगोचर होतीहैं। इन्हें देखते ही हमें चारित्र का स्मरण होता है। इसे उत्तम प्रकार की सजावट अथवा श्रृंगार कहते हैं।

घर में प्रविष्ट होते ही मुख्य शत्रुंजय का चित्र अथवा नवकार मंत्र आदि लगाये हुए हो तो घर में प्रविष्ट होते ही साधु-साध्वी अथवा अन्य श्रावकों को ज्ञात हो जाये कि यह श्रावक का ही घर है। यदि अभिनेत्रियों के चित्र हों तो कैसे ज्ञान होगा कि यह किसका आवास है ?

6. आवास जिनालय तथा उपाश्रय के समीप होना चाहिये -

दिन के द्वितीय अथवा तृतीय प्रहर में समीपस्थ शिखर-बंध जिनालय की ध्वजा की परच्छाई न पड़ती हो इसका प्रकार का हमारा आवास होना चाहिये। यदि आवास तथा जिनालय के मध्य होकर एक मोटर निकल सके उतना विशाल मार्ग हो तो ध्वजा की परछाई की कोई आपत्ति नहीं है। उपयुक्त विधान इस बात का सूचक है कि हमारा आवास जिस प्रकार उत्तम पड़ोस में होना चाहिये उसी प्रकार से हमारा आवास जिनालय एवं उपाश्रय के समीप होना चाहिये।

यदि जिनालय समीप हो तो किसी दिन विलम्ब हो तो भी जिन-पूजा आदि से वंचित नहीं रहना पड़े और सायंकाल में जिन-दर्शन-वन्दन का लाभ प्राप्त हो। यदि उपाश्रय समीप हो तो साधु अथवा साध्वीजी का संयोग होने पर गोचरी-पानी आदि समर्पित करने का सुपात्र दान का लाभ प्राप्त होता है और मुनियों के सत्संगति आदि का भी अवसर प्राप्त होता रहता है।

इस प्रकार उचित आवास (घर) होने से अनेक लाभ हैं। इन समस्त लाभों का अत्यन्त अच्छी तरह विचार करके योग्य स्थान पर घर लेना चाहिये। वर्तमान समय में तो विशेषत: उचित घर नामक गुण का पालन होना आवश्यक है। कदम-कदम पर धन एवं धर्म की सुरक्षा की कितनी आवश्यकता है। पापोदय के कारण कहीं अनुचित आवास में फंस गये तो सतत आर्त्तध्यान यावत् संरक्षणानुबंधी रौद्र ध्यान होने की अत्यन्त सम्भावना है। परिणाम स्वरूप दुर्गति में जाना पड़ेगा। अत: 'उचित घर' नामक बहुमूल्य गुण के पालन को क्रियान्वित करें, जिसमें ही हमारा हित है।

(आठवाँ गुण)

तुलसी संगत सन्त की, कटे कोटि अपराध

कृतसङ्गः सदाचारैः

सत्संग

शाश्वत काल के लिये असंग हो जाना हमारे जीवन का वास्तिविक स्वभाव है। परन्तु कर्म रूपी पुद्‌गलों का संग करके हमारे जीव ने महान् भूल की है। अब इस कार्य-संग के कारण हमारी आत्मा के विकृत बने हुए रूप-रंग को पुनः मूल रंग में लाने के लिये अत्यन्त आवश्यक गुण है - सत्संग।

* संसार के संग से मुक्त होने का उपाय है - सत्संग।
* सन्तानों को भी धर्माभिमुख करने का मार्ग है - सत्संग।
* मदिरा के व्यसन वालों को भी देव बनाता है - सत्संग।
* शुभ संस्कार जागृत करने के लिये आवश्यक है - सत्संग।
* बंकचूल जैसे चोरों का भी उद्धारक है - सत्संग।
* जिसकी पूर्व शर्त है - कुसंगति का त्याग, ऐसा है - सत्संग।
* चण्ड़कौशिक नाग जैसे को देवात्मा बनाता है भगवान वीर का सत्संग।
* इन्द्रभूति जैसे अभिमानी को 'प्रथम गणधर' एवं 'परम विनयमूर्ति' बनाने वाला है महावीर का -सत्संग।

सत्संग की ऐसी महिमा गाने वाले इस गुण का विवेचन अवश्य पढें और उस पर मनन करें।

मार्गानुसारी आत्मा का आठवां गुण है - सत्संग।

मार्गानुसारिता का आठवाँ गुण है - सत्संग।

जीवन का वास्तविक स्वभाव तो असंग ही है-

ज्ञानी पुरूषों का कथन है, जीव का वास्तविक-स्वभाव तो असंग ही होना है। संग समस्त दुःखों का कारण है, चाहे वह जीव का हो अथवा जड़ का हो।

हमारे जीवात्मा ने कर्मरूपी पुद्गलों का संग किया इस कारण ही उसे संसार में परिभ्रमण करना पड़ रहा है न ? यद्यपि यह कर्म-संग अनादिकालीन है।'' जीव अनादि, कर्म अनादि और जीव तथा कर्म का संयोग अनादि है।'' यह जैन-दर्शन का मूलभूत सिद्धान्त है। फिर भी असत् कल्पना से हम यह मान लें कि जीव का कर्म के साथ संयोग (संग) ही नहीं होता तो ? तो कितना उत्तम होता ?

तो कर्म के संग के कारण भोगने पड़ते अनन्त दुःख जीव को नहीं होते। जिसमें से ये दुःख उत्पन्न होते हैं वे घृणास्पद पाप नहीं होते, सांसारिक सुख की भयानक लालसा नहीं होती। जन्म-जीवन एवं मृत्यु का चक्कर नहीं होता, चौदह राजलोक में जीव का परिभ्रमण नहीं होता और स्वर्ग के असंख्य सुखों के आस-पास लिपटे हुए ईर्ष्या एवं अतृप्ति के भयानक पाप नहीं होते।

आराधना का अन्तिम फल-कर्मसंग से मुक्ति -

और हमारी समस्त आराधना का, धर्म का अन्तिम फल है- कर्म के साथ सदा के लिये असंग। कर्म के असंग अर्थात् मोक्ष। मोक्ष में जाने के पश्चात् जीव को कर्मों का संग कदापि नहीं रहता और इस कारण ही उस कर्म-संग से जनित संसार जीव को नहीं है। संसार नहीं हो तो दुःख, पाप और भ्रान्ति-जनक सुखों का समूह भी नहीं है।

इस प्रकार शाश्वत सुख के संगी बनने की लिये हमें कर्म-संग से मुक्त होना ही होगा। हमारी समस्त धर्म-क्रियाओं का यहीं अन्ति लक्ष्य (ध्येय) है। परन्तु जीव एवं पुद्गलों के इस संग से मुक्त कैसे हुआ जाये ? इस संग से मुक्त होने का उपाय क्या है ?

संग-मुक्ति का उपाय है सत्संग -

संग-मुक्ति के लिये शास्त्रकारों ने अनेक उपाय बताये हैं, जिनमें से एक उपाय है - सत्संग। जब तक जीव को शाश्वत असंग दशा प्राप्त नहीं हुई तब तक उसे किसी न किसी पदार्थ का अथवा प्राणी का *संग करना ही पड़ेगा। फिर कुसंग का परित्याग करके जीव को 'सत्संग' करना ही उसके* आत्म-कल्याण का उत्तम मार्ग है।

मुख्यतः तीन प्रकार के सत्संग -

इनमें सर्वोत्तम संग है - संसार-त्यागी एवं पंच महाव्रतधारी साधु भगवतों का संग। दूसरा है उत्तम अर्थात् धर्मनिष्ठ सज्जन श्रावक-मित्रों का संग। कदाचित् वह मित्र श्रावक न भी हो और मार्गानुसारी के उत्तम गुणों से युक्त हो तो भी वह सुमित्र कहलायेगा और उसका संग भी सत्संग कहलायेगा।

तीसरा है उत्तम पुस्तकों का संग। जीवन की सुधारक, सद्-गुणी बनाने वाली और मोक्ष मार्ग में पुष्टता प्रदान करने वाली पुस्तकों का पठन भी एक प्रकार का सत्संग है। साधुओं का संग एवं सन्मित्रों का संग पराश्रित है और इस कारण सदा प्राप्त होने वाला नहीं है। यह अमुक समय के लिये सीमित है तथा हमारी इच्छानुसार प्राप्त हो सके वैसा नहीं है, जबकि उत्तम पुस्तकों का संग स्वाश्रयी है। आपके आवास में संग्रह की हुई पुस्तकों का आपकी इच्छा हो तब आप उनका पठन कर सकते है, अत: यह सत्संग सदा आपके साथ है।

जब सत्पुरूषों एवं सन्मित्रों की सत्संगति (सत्संग) का लाभ प्राप्त न हो सकेतब उत्तम पुस्तकों के सत्संग में हमें अवश्य रहना चाहिये, ताकि जीवन में सद्‌गुणों की प्राप्ति एवं उनकी सुरक्षा *तथा वृद्धि होती रहती है।*

सद्‌गुणों का प्रवेश द्वार- सत्संग -

जीवन के समस्त सद्‌गुणों का प्रवेश-द्वार सत्संग है। सत्संग के प्रभाव से दोष दूर करने का मार्ग प्रारम्भ होता है, प्रशस्त होता है। हमारे जीवन में अनेक दोष एवं पाप प्रविष्ट हो चुके हैं। उन समस्त का नाश करने के लिये हमें सत्संग का आश्रय अवश्य लेना चाहिये।

सत्संग के प्रभाव सम्बन्धी गुण-ज्ञान करते हुए गोस्वामी संत तुलसीदास ने कहा है -

एक घड़ी, आधी घड़ी, आधी में भी आध।
तुलसी संगत संत की, कटे कोटि अपराध।।

एक घड़ी अर्थात चौबीस मिनट, अरे ! उससे भी आधी घड़ी अर्थात् बारह मिनट, अरे ! उस आधी की भी आधी अर्थात् केवल छ: मिनट भी यदि संत पुरूष की संगति (सत्संग) प्राप्त हो जाये तो करोड़ों जन्मों के पाप धुल कर साफ हो जाते हैं। सत्संग की महिमा कितनी अपरम्पार है, क्योंकि संत अर्थात् सद्‌गुणों का सुगन्धमय उद्यान। उद्यान में गया हुआ व्यक्ति जिस प्रकार पुष्पों से, उनकी सुगन्ध से प्रसन्न न हो यह असंभव है, उसी प्रकार से संत के सान्निध्य में गया हुआ व्यक्ति सद्‌गुणों की सुगन्ध से सुप्रसन्न न हो यह कदापि संभव नहीं है, और यदि ऐसा हो जाये तो समझ लेना कि अथवा तो वे सच्चे संत नहीं है अथवा वहाँ जाने वाला व्यक्ति मानव देह में पत्थर होगा, पत्थर तुल्य जड़ होगा। इतिहास के पृष्ठों को उलटा कर देखेंगे तो ज्ञात होगा कि अधिकतर सद्‌गुणी व्यक्ति, संत, सज्जन एवं मुनिवर किसी न किसी संत-पुरूष के प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रभाव से ही सन्मार्ग की ओर उन्मुख हुए थे। वालिया डाकू किसी संत-पुरुष के प्रभाव से ही वाल्मिकी बना।

पत्नी के सत्संग से कामांध तुलसीदास का संत तुलसी में रूपान्तर -

संत तुलसीदास संसारी जीवन में अत्यन्त कामांध थे। एक बार उनकी पत्नी रत्नावली पीहर गई तो पत्नी की रूपहरी देह में लुब्ध बने वे रात्रि के समय वहाँ भी पहुंच गये। देर रात्रि के समय घर के मुख्य द्वार से प्रविष्ट होने में उन्हें लज्जा आने लगी। अत: घर की ऊपर की मंजिल पर जहाँ

रत्नावली सो रही थी वहाँ पहुँचने के लिये खिड़की में लटकते हुए एक लम्बे साँप को रस्सी समझ कर उसे पकड़कर वे तुरन्त उपर चढ गये। उपर पहुँचकर उन्होंने रत्नावली को जगाया। वह तो चौंक उठी, और बोली -अरे आप। यहाँ-कहाँ से ? और वह भी इतनी रात्रि के समय ? नीचे का मुख्य द्वार तो भीतर से बन्द था, फिर भी आप ऊपर कैसे आये ?''

तुलसी दास ने कहा, ''तेरे प्रति अत्यधिक प्रेम मुझे यहाँ खींच लाया। तेरा विरह एक दिन के लिये भी मुझसे सहन नहीं हो रहा था। इस कारण मैं यहाँ भाग आया। मुख्य द्वार बंद होने से इस खिड़की में लटकती रस्सी के सहारे ऊपर चढ गया।'' रत्नावली ने जब खिड़की में देखा तो चीख उठी'' अरे। यह तो रस्सी नहीं, साँप है। तो क्या आपको इतना भी भान नहीं रहा कि यह रस्सी है अथवा सांप है ?'' नहीं, मुझे बिल्कुल भी ध्यान नहीं रहा, तेरे प्रेम ने मुझे पागल कर दिया था, जिससे मैं साँप को भी पहचान नहीं सका, तुलसीदास ने उत्तर दिया।

तब रत्नावली ने उत्तर दिया -

''लाज न लागत आपको, दौड़े आये हू साथ।

धिक् ! धिक ! ऐसे प्रेम को, कहा कहूँ मैं नाथ ?

अस्थि-चरम मय देह मम, तामें जैसी प्रीति।

ऐसी होती राम मैह, होत न तो भव-भीति।।''

आपको तनिक भी लज्जा नहीं आई जो पीछे के पीछे भागे आये। आपके ऐसे प्रेम को बार-बार धिक्कार है, मैं आपको क्या कहूँ ? अस्थि-चर्म युक्त मेरी देह में आपको जितना प्रेम है, उतना यदि भगवान राम में आपका प्रेम होता तो आपका उद्धार हो जाता, आपकी देह और आत्मा दोनों का कल्याण हो जाता।''

संसारी फिर भी अन्तर से संन्यासिनी जैसी रत्नावली रूपी संत की यह वाणी सुनकर कामांध तुलसीदास ने तत्क्षण संसार को त्याग दिया, वे विरक्त हो गये, वे संत तुलसी दास बन गये। इन्हीं संत तुलसीदान ने 'रामचरित मानस' जैसे महान् ग्रन्थ की रचना की।

सत्संग से सन्तान भी धर्माभिमुख -

जीवन में अन्य धर्म-कार्य कदाचित् न हो सकें तो चल सकता है, परन्तु सत्पुरूषों की, साधुजनों की सत्संगति तो अवश्य होनी चाहिये। यदि जीवन में से दुर्गुणों को निकालना हो, यदि धर्म-विमुख सन्तानों को धर्माभिमुख करने की लगन हो तो किसी उत्तम साधु-पुरुष का साक्षात्कार करा देना चाहिये, जिनके प्रभाव मात्र से, केवल सत्संग से उन सन्तानों में धर्म का प्रारम्भ निश्चित रूप से हो जायेगा। इसके लिये किसी प्रकार की सौगन्ध देने की भी आवश्यकता नहीं रहती। सच्चे साधु तो अपने निर्मल चारित्र से, आन्तरिक वात्सल्य से ओर सुमधुर स्वभाव आदि सद्गुणों से ही सामने वाले का हृदय जीत लेते है । उनके सम्पर्क में आने वाला व्यक्ति अमुक क्षणों में ही उनका

अपना बन जाता है, ऐसी सुन्दर उनकी शैली एवं उनका सान्निध्य होता है।

'क्षणमपि सज्जनसंगति रे का भवति भवार्णव तरणे नौका।।'

सज्जन पुरूष की, साधु-पुरूष की एक क्षण भर की संगति भी संसार-सागर को पार करने के लिये नौका के समान है।

सत्संग के प्रभाव से शराबी अधिष्ठायक देव बना -

एक सालवी मदिरा का भयंकर व्यसनी था। वह घंटे भर भी मदिरा-पान किये बिना रह नहीं सकता था। मदिरा के नशे के कारण वह ऐसा दुराचारी, व्यभिचारी हो गया था कि उस गाँव की स्त्रियां भी उससे दूर भागती थी। शिष्ट पुरूष उसे दया का पात्र मानते। वे सब मदिरा-पान की उसकी कुटेव के कारण उसकी दुर्दशा होती देखकर दु:खी होते, परन्तु कोई उसको मदिरा-पान की आदत छुड़ा नहीं सकता था। एक दिन उस गाँव में एक मुनिराज पधारे। वे नित्य सुमधुर शैली में प्रवचन - गंगा प्रवाहित करते। सद्भाग्यवश उस सालवी का घर पास ही था। कोई कल्याण - मित्र उसे एक दिन साधु-भगवंत के प्रवचन में खींच लाया। और वहां आश्चर्य हो गया। मंदिरा के नशाबाज को मुनिराज का प्रवचन करने का भी नशा चढ गया। निरन्तर चार दिनों तक मुनिराज की हृदयस्पर्शिनी वाणी का *श्रवण करके सालवी का कठोर हृदय भी परिवर्तित हो गया था।*

जब मुनिराज के विहार की तिथि आई तो सालवी मुनिवर के समीप बैठा, उनका वन्दन करके वह फूट-फूट कर रूदन करने लगा। मुनिराज ने पूछा - ''भाई। क्या बात है ? इतना रूदन क्यों कर रहे हो ?'' इतना कहकर उन्होंने मातृवत् वात्सल्य पूर्ण हाथ उसकी पीठ पर फिराया।

सभी मनुष्यों द्वारा तिरस्कृत सालवी को मुनिवर का यह वात्सल्य अपार आनन्द-विभोर कर गया। सालवी ने मुनिवर के चरणविन्द को अपने अश्रु-बिन्दुओं से प्रक्षालित करते हुए कहा ''गुरूदेव। क्या करूँ ? आप मुझे बचा लीजिये। मैं मदिरा के घोर व्यसन में फँस गया हूँ। मैं किसी भी दशा में मंदिरा का परित्याग नहीं कर सकता, परन्तु आपके प्रवचनों को श्रवण करने के पश्चात् अब मुझे जीवन में कुछ धर्म प्राप्त किये बिना शान्ति नहीं मिलेगी।''

''यदि मदिरा प्राप्त होने में तनिक विलम्ब हो जाये तो भी वह मुझसे सहन नहीं होता, मेरे हाथों-पाँवो की नसे खिंचने लगती हैं। मेरा सिर चकराने लगता है। गुरूदेव! इस भयंकर पाप में से मेरा उद्धार करो।'' इतना कहकर वह पुन: रोने लगा।

मुनिराज ने उसे कहा ''तुम शान्त हो। तुमने यदि मदिरा का पूर्णत: परित्याग नहीं हो सकता हो तो मैं कहता हूँ वैसे करो। जब तुम मदिरा-पान करो तब पूर्णत: पेट भरकर पी लेने के पश्चात् एक डोरी को गाँठ लगाना और पुन: जब मदिरा-पान करना हो तब तुम उस गाँव को खोल देना। तत्पश्चात् पुन: इच्छानुसार मंदिरा-पान करके पुन: उस डोरी के गाँठ लगा देना। यह डोरी नित्य तुम्हारे पास ही रहनी चाहिये। जितने समय तक मंदिरा की गाँठ रहे उतने समय तक तुम्हारे

मदिरा का त्याग रहेगा। तुम इतनी प्रतिज्ञा कर लो तो भी तुम्हें अत्यन्त लाभ होगा।''

यह बात सुनकर मालवी प्रसन्न हो गया और बोला ''भगवन्! यह तो अत्यन्त सरल एवं सुन्दर प्रतिज्ञा है। इसमें तो मदिरा के परित्याग की बात भी नहीं है और फिर प्रतिज्ञा के धर्म की आराधना का लाभ प्राप्त होता है। इससे उत्तम और क्या हो सकता है ? उसने प्रतिज्ञा कर ली और गुरू महाराज विहार करके अन्यत्र चले गये।

वह प्रतिज्ञा का उचित प्रकार से पालन करता रहा। कुछ दिन व्यतीत होने के पश्चात् एक दिन मालवी को मदिरा-पान करने की तीव्र इच्छा हुई। अत: उसने गाँठ खोलने का प्रयत्न किया, परन्तु गाँठ अत्यन्त सुदृढ हो गई थी। अत: वह ज्यों-ज्यों उसे खोलने का प्रयास करता, त्यों-त्यों वह अधिकाधिक सुदृढ होती जाती थी। अब क्या हो ? मदिरा-पान की पिपासा में वृद्धि हो रही थी। उसके हाथों-पांवों की नसें खिंच रही थी। अब उसे मदिरा-पान किये बिना जीना दूभर हो गया था।

सालवी के स्वजन एवं परिवारजन उसकी ऐसी दयनीय स्थिति देख नहीं पा रहे थे। अत: परिवार-जनों ने उसे प्रतिज्ञा भंग करके मदिरा-पान करने का परामर्श दिया, परन्तु प्राण चले जायें तो भी उसने प्रतिज्ञा भंग करने का और उस प्रकार से मदिरा-पान करने का इनकार किया।

अन्त में कुछ समय पश्चात् शुभ ध्यान में सालवी का निधन हो गया और मृत्यु के पश्चात् वह देवलोक में देव के रूप में उत्पन्न हुआ।

उपयोग छोड़कर अवधिज्ञान से वह उसने अपना पूर्व भव देखा तब स्वयं को ऐसा प्रण देकर शराबी से देव बनाने वाले गुरूदेव के प्रति उसके हृदय में अत्यन्त पूज्य भाव उत्पन्न हुआ और वह तुरन्त गुरूदेव के पास आया।

वन्दन करने के पश्चात् उसने उन्हें निवेदन किया ''भगवन्। आप द्वारा प्रदत्त प्रतिज्ञा का समुचित रूप से पालन करके मैं शराबी से देव बना, पाप-मुक्त हुआ। पाप-मुक्त होकर मैं आपके उपकार-ऋण से वृद्ध हो गया हूँ। आप मुझे कोई ऐसा कार्य बताइये जिसे करके मैं ऋण से अऋण हो सकूं।''

तब गुरू महाराज ने उसे शत्रुंजय तीर्थ की रक्षा करने की प्रेरणा दी। तब से वह कदर्पी नामक देव शत्रुंजय तीर्थ का अधिष्ठायक बना और तीर्थ-रक्षा करता हुआ वह ऋण से उऋण होने का आनन्द मानने लगा। सत्संग में जीवन-परिवर्तन करने का कैसा अद्‌भुत सामर्थ्य है, उसका यह एक प्रेरक दृष्टान्त है।

शुभ संस्कार जागृत करने के लिय सत्संग आवश्यक -

पूर्व भवों में हमारी जीवात्मा को अनेक प्रकार के संस्कार प्राप्त हुए हैं, उनमें शुभ भी हैं एवं अशुभ भी हैं। मानव भव में हमारे जीव में दया एवं दान के संस्कार भी प्राप्त किये हैं और बिल्ली बनकर कबूतरों को मार कर खाने के हिंसा के कुसंस्कार भी आत्मा में भरे हैं। उनमें से कौनसे संस्कार

जागृत करने हैं यह हमारे बस की बात है। यदि हम अशुभ संस्कारों को जागृत होने देना नहीं चाहते हों तो शुभ संस्कार ही जागृत करने हैं जिसके लिये सत्संग रूपी शुभ निमित्त प्राप्त करने पड़ेंगे।

खेत में कृषि करने के पश्चात् यदि उसमें अनाज का बीज नहीं बोया जाये तो घास आदि तो वहाँ स्वत: ही उग जाता है। उसके लिये कोई पुरूषार्थ करने की आवश्यकता नहीं होती। इसी प्रकार से यदि आत्मा रूपी खेत में सत्संग के द्वारा शुभ संस्कारों का बीज नहीं बोया जाये तो अशुभ संस्कारों रूपी घास तो स्वत: ही उगने वाला है। अत: सत्संगति के द्वारा शुभ संस्कारों को जागृत करना ही चाहिये।

शुभ संस्कारों के लिये पुरूषार्थ आवश्यक -

अधिक पुरूषार्थ की आवश्यकता नहीं होती, परन्तु शुभ संस्कार जागृत करने के लिये प्रबल पुरूषार्थ करना पड़ता है। जल प्रवाह को यदि ढालू भाग में नीचे की ओर प्रवाहित करना हो तो तनिक भी पुरूषार्थ नहीं करना पड़ता, परन्तु यदि जल ऊपर चढाना हो तो पंप आदि लगाना पड़ता है, विशेष प्रयत्न करना पड़ता है।

इसी प्रकार से निर्बल निमित प्राप्त होने पर जीव में सुसंस्कार शीघ्र प्रकट हो जाते हैं, जबकि उत्तम निमित्त, आलम्बन प्राप्त होने पर भी सुसंस्कारों को उद्दीप्त करने के लिये जीव को प्रबल पुरूषार्थ करना आवश्यक हो जाता है। फिर भी शुभ संस्कार जागृत करने के लिये सत्संग एक अमूल्य उपाय है।

सत्संग के प्रभाव से वंकचूल का उद्धार -

वंकचूल जैसे भयानक डाकू का भी मुनियों की सत्संगति के प्रभाव से जीवन-परिवर्तन हो गया था। चातुर्मासार्थ आये हुए आचार्य देव को चोरपल्ली में सपरिवार रहने की इस शर्त पर वंकचूल ने अनुमति प्रदान की कि वे उसे चातुर्मास में धर्म का कुछी भी उपदेश नहीं देंगे और आचार्य भगवान ने उसकी यह शर्त स्वीकार कर ली।

आचार्य भगवान आदि मुनिवरों के प्रयत्न उत्तम जीवन-व्यवहार से प्रभावित वंकचूल जब चातुर्मास पूर्ण होने पर आचार्य महाराज को प्रयाण के समय भेजने गया, तब उन्होंने उसकी सीमा के पार खड़े रहकर उसे धर्म के दो शब्द श्रवण करने के लिये कहा। आचार्य श्री के प्रति सद्भावना वाले वंकचूल ने उनकी बात स्वीकार कर ली, तब उन्होंने उसे प्रतिज्ञा का महत्व समझाया और उसके योग्य निम्न चार नियम अंगीकार करने की बात कही -

1. जिस फल को तू नहीं पहचानता हो उस अनजाने फल को तू मत खाना।

2. किसी भी जीव को मारना पाप है, परन्तु उस पाप का तू पूर्णतया त्याग नहीं कर सके तो किसी भी प्राणी पर प्रहार करने से पूर्व तू सात-आठ कदम पीछे हट जाना।

3. पूर्णरूप से उच्च कोटि के सदाचार की पालना करना, फिर भी यदि तुझसे यह न हो सके तो राजा

की रानी के साथ तो कदापि दुराचार नहीं करना।

4. किसी भी प्रकार का मांसाहार पाप है, फिर भी यदि तुझसे यह न हो तो कौए का माँस तो कदापि नहीं खाना।

वंकचूल को ये नियम अत्यन्त सरल प्रतीत हुए। अत: उसने विनय पूर्वक दोनों हाथ जोड़कर ये चारों नियम ग्रहण कर लिये और उन चारों का भिन्न भिन्न समय पर अद्‌भुत चमत्कार अनुभव करके वह महान् प्रतिज्ञा-पालक बनकर अपना आत्म-कल्याण कर गया।

कुसंग का परित्याग करो -

हमें उच्च कोटि के सद्‌गुरू संत प्राप्त होने पर भी यदि हमारे जीवन में कोई परिवर्तन नहीं होता हो, छ: मिनट नहीं, बारह मिनट अथवा चौबीस मिनट नहीं, परन्तु चार सौ दिन तक अथवा चौदह सौ घंटो तक संतो का संग करने पर भी यदि हम सुधर नहीं सकते है तो हमें इसका कारण ढूंढना चाहिये कि आखिर परिवर्तन नहीं होने का कारण क्या हैं ?

परिवर्तन नहीं होने के अनेक कारणों में अत्यन्त महत्वपूर्ण एक कारण है - कुसंग (कुसंगति)। सत्संग की शक्तिशाली औषधि को भी पूर्णत: निष्फल सिद्ध करने वाला महा कुपथ्य है - कुसंग। जिस प्रकार अत्यन्त कुशल वैद्य की मंहगी से महंगी औषधि भी कुपथ्य का परित्याग नहीं करने के कारण विफल सिद्ध होती है, उसी प्रकार से कुसंग रूपी कुपथ्य का परित्याग किये बिना सत्संग रूपी औषधि आत्मा को असंग दशा (स्वभाव दशा) रूपी पूर्ण आरोग्य प्रदान करने में विफल होती है।

चौबीस घंटो में एक-आधा घंटा अथवा धार्मिक शिक्षण शिविरों के दिनों अथवा घंटो को छोड़कर अन्य घंटे और दिन यदि निरन्तर कुसंग के कुरंग में रंगे जाते रहें तो सत्संग से प्राप्त लाभ निष्फल ही सिद्ध होता है। सत्संग के तीन भेदों की तरह कुसंग भी मुख्यत: तीन भेद है।

1. कुमित्रों का कुसंग :- दुष्ट मित्रों की संगती जीवन-निर्माण में अत्यन्त हानिकारक सिद्ध होती है। नीति का एक वचन है कि काले व्यक्ति के पास गौर वर्ण का व्यक्ति बैठता रहे तो चाहे उसका वर्ण उसमें न आवे परन्तु उसकी दुष्ट बुद्धि तो उसमें अवश्य ही आयेगी। आम एवं इमली की कलमों को सम्मिलित करके यदि भूमि में बोई जायें तो आम में इमली की खटाई आ जायेगी परन्तु इमली में आम की मधुरता कदापि नहीं आयेगी।

इसी प्रकार से दुष्ट मित्रों की संगति से पाप के सद्‌गुण तो उन कुमित्रों के जीवन में प्रविष्ट नहीं होंगे, परन्तु उनके दुर्गुण तो आपके जीवन में अवश्य आ जायेंगे। सद्‌गुरूओं की संगति तथा सम्पर्क से प्राप्त आत्म-धन, संस्कार-धन एवं सद्‌गुण-धन वे कुमित्र रूपी लुटेरे लूट ले जाते हैं।

'चलो यार' कह कह कर आपके कुमित्र आपको मदिरा पान एवं बियर पान का चस्का लगाते हो, आपको होटलों, क्लबो एवं नृत्य गृहों में ले जाते हो, ब्लू फिल्में देखने का मोह लगाते हों,

और कदाचित् कॉलगर्ल अथवा कुट्टनियों की कुसंगति में फँसाते हों तो ऐसे मित्रों से सचेत रहें। वे मित्र आपके जीवन के, आपकी सज्जनता के, आपके द्रव्य-धन के, आपके भाव-धन के और आपके समस्त सद्गुणों के लुटेरे हैं। वे आपके मित्र नहीं है, आपके भयानक शत्रु हैं। ऐसे शत्रुओं को तो सौ गज की दूरी से ही प्रणाम करके दूर हट जाना चाहिए।

काले विषैले नाग से भी अधिक भयानक है कुमित्रों की संगति। क्योंकि काला नागतो केवल एक बार ही हमारे द्रव्य-प्राण को लूटता है, जबकि दुष्ट मित्र तो हमारे आत्म-गुणों रूपी भाव-प्राण हर लेते हैं।

जिस किसी को अपना 'जिगरी दोस्त' अथवा प्रिय सखी' बनाने से पूर्व पुरुषों एवं स्त्रियों को अत्यन्त सावधान रहना चाहिये। इस प्रकार का अंधा साहस कभी-कभी जीवन का अत्यन्त अध:पतन करने में समर्थ हो जाता है, क्योंकि वर्तमान काल के अधिकतर मित्रों की दृष्टि आपकी धन-सम्पत्ति पर ही होती है। जिनके मन मैले हैं, जीवन अपवित्र हैं, स्वार्थ पूर्ण मनोवृत्तियाँ हैं, वे मित्र अथवा सखी जीवन के लिये किस प्रकार लाभदायक हो सकते हैं?

जिनकी वाणी, वृत्ति एवं व्यवहार तीनों दूषित हो चुके हों उन मनुष्यों को मित्र बनाने की अपेक्षा मित्र नहीं होना ही श्रेयस्कर है। ''नहीं मामा की अपेक्षा काना मामा अच्छा'' इस उक्ति की तरह ''अच्छा मित्र नहीं हो तो अपनाया नहीं जा सकता। जिनके जीवन में अनेक दूषण प्रविष्ट हो गये हैं ऐसे युवक-युवतियों की यदि सचमुच गहराई से छानबीन की जाये तो हमें प्रतीत होता है कि उनके अध:पतन के मूल में प्राय: किसी न किसी दुष्ट मित्र अथवा दुष्ट सहेली की कुसंगति ही कारण भूत होगी, यह बात निश्चित है। स्कूलों, कॉलेजों और विशेषत: छात्रावासों में माता-पिता के सान्निध्य रहित जीवन यापन करने वाले किशोर एवं किशोरियों के जीवन अनेक प्रकार की बुराईयों में फंस गये हो तो उसमें कारणभूत है - किसी न किसी का कुसंग। इसलिये पूर्णत: जाँच किये बिना माता-पिताओं को चाहे जैसी संस्थाओं में अथवा छात्रालयों में अपने बालकों को भेजना अत्यन्त अहितकारी है।

कुदृश्यों का कुसंग -

कुमित्रों के समान ही बुरा संग है कुदृश्यों का। कुदृश्य अर्थात् कुत्सित चित्र, सेक्स से परिपूर्ण अश्लील चित्र एवं दृश्य, मन में विकार उत्पन्न करने वाली ब्लू फिल्में और ब्लू फिल्मों का दर्शन। ऐसी अश्लील फिल्मों एवं विकृत चित्रों का दर्शन जीवन के आन्तरिक सत्त्व एवं सौन्दर्य का संहारक समस्त संसार का शत्रु है। जो व्यक्ति अपना जीवन मंगलमय बनाना चाहते हों, सदाचारी एवं सद्विचार युक्त बनाना चाहते हो, उन्हें विकृत के पोषक कुदृश्यों को तिलांजलि देनी ही चाहिये।

जिसे देखने से कदाचित् क्षणिक कृत्रिम आनन्द की अनुभूति होती है, परन्तु उसके द्वारा परिपोषित कुसंस्कार आत्मा का अत्यन्त अहित करते हैं, दुर्गति के द्वार खोल देते हैं और अनेक भवों के लिये मानव अथवा देव जैसी गतियों से हमें वंचित कर देते हैं और वृक्ष, पौधों अथवा निगोद के

अत्यन्त कष्टमय भवों में हमें फैंक देते हैं, ऐसे अहितकर कुसंग का हमें पूर्ण रूप से परित्याग ही कर देना चाहिये।

अश्लील एवं कुत्सित साहित्य का कुसंग -

कुमित्रों एवं कुदृश्यों जितना ही खतरनाक संग है - अश्लील एवं कुत्सित साहित्य पठन का। आज विश्व मे जितने सत्साहित्य का सृजन होता है उससे कदाचित् दस गुने कुसाहित्य का सृजन होता होगा। अनेक शौकीनों को पढने की भारी आदत होती है। पठन का चाव अच्छा है, परन्तु इसमें विवेक दृष्टि की अत्यन्त आवश्यकता होती है। सुसाहित्य (सत्साहित्य) का पठन मानव को संस्कारी एवं सद्गुणी बनाता है और कुसाहित्य का पठन मानव को विकारी एवं अवगुणी बना देता है। यदि कोई अन्य कार्य नहीं हो तो मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि अवकाश के समय नींद ले लेना, परन्तु अश्लील कुसाहित्य का कदापि स्पर्श तक मत करना। यदि आपको अपना जीवन मंगलमय बनाने की तमन्ना हो तो, कुमित्रों, कुदृश्यों एवं कुसाहित्य-पठन इन तीनों के संग से सदा दूर ही रहें।

कुसंग के त्याग रूपी पथ्य के सेवन सहित सत्संग रूपी औषधि आत्म कल्याण के लिये राम-बाण उपचार है। वह भील पूर्णत: नास्तिक था, वह मुनियों को पाखण्डी मानता और धर्म को ढोंग कहता। एक दिन विहार करते हुए एक ज्ञानी मुनिराज उसके घर पर आ पहुंचे। सूर्यास्त हो जाने के कारण आगे नहीं जा सकने के कारण उन्होंने उस भील के घर के एक कमरे में रात्रि-विश्राम करने की अनुज्ञा मांगी।

मानवता की दृष्टि से भील ने उन्हें रात्रि-विश्राम की अनुमति तो प्रदान कर दी, परन्तु उसके मन में यह था कि ये साधु कितने असत्य-भाषी होते हैं वह मैं इन्हें आज बता दूँगा। मुनियों की दृष्टि की प्रतिक्रमण आदि क्रियाऐं पूर्ण होने पर भील वहाँ आया और उसने कहा ''महाराज''। आज यदि महान ज्ञानी हैं तो कहिये - मैं कल क्या खाऊँगा ?'' भील के मन में यह था कि महराज जिस वस्तु का नाम बतायेंगे उसे मैं कल खाऊँगा ही नहीं, फिर महाराज असत्य-भाषी हो जायेंगे।

मुनिराज सचमुच विशिष्ट ज्ञानी थे। भील को धर्म की ओर उन्मुख करने का यह निमित्त होने से उन्होंने इस अवसर का लाभ उठा लिया। उन्होंने ज्ञान-बल से कहा, ''तू कल मूँग का पानी ही पीने वाला है, अन्य कुछ नहीं।''

''मूँग का पानी तो मैं कदापि नहीं पिऊँगा'' इस प्रकार मन में सोचता हुआ भील अपने घर के भीतर गया। रात्रि में उसे अचानक भारी ज्वर चढ़ गया। रातभर पत्नी आदि ने उसकी सेवा की और प्रात: ही वैद्य को बुलाया। भयंकर तीव्र ज्वर से भील की देह जल रही थी। वैद्यराज ने नाड़ी देखकर कहा ''इसे खाने के लिये कुछ भी मत देना और यह औषधि की पुड़िया मूँग के पानी के साथ दे देना।''

''मूँग का पानी'' नाम सुनते ही भील चौंका और उठ बैठा। वह हाथ जोड़कर वैद्यराज को कहने लगा ''वैद्यराज। आप कुछ भी करें, परन्तु मुझे मूँग का पानी तो आज मत देना। मैं किसी भी

दशा में मूँग का पानी तो नहीं पिऊँगा।'' वैद्यराज ने कहा ''तो यह तीव्र ज्वर तेरे प्राण लेकर ही जायेगा।'' पति की मृत्यु की बात सुनकर घबराई हुई उस की पत्नी ने उसे बलपूर्वक मूँग के पानी के साथ औषधि दे दी। मूँग का पानी नहीं पीने के भील के अनेक प्रयासों को भील-पत्नी ने विफल कर दिये और इस एक ही प्रसंग से उसमें मुनिराज के प्रति अद्‌भुत सम्मान उत्पन्न हुआ और वह धर्म की ओर अभिमुख हो गया।

मुनि को असत्य-भाषी सिद्ध करने की भावना से भी किया गया मुनि-संग धर्म-प्राप्ति का कारण हो गया। ऐसा ही हुआ थ न उस इन्द्रभूति गौतम का ? समव-सरण में देशना श्रवण करके आये हुए लोगों के मुँह से सर्वज्ञ भगवान महावीर परमात्मा के अनुपम गुणों का वृत्तांत सुनकर इन्द्रभूति का मान आहत हो गया। उसने सोचा-अरे। मेरे जैसा सर्वज्ञ इस संसार में जीवित है, फिर वह दूसरा सर्वज्ञ कौन उत्पन्न हो गया ? देखूँ तो सही, उस सर्वज्ञ में कितनी शक्ति है ? अभी जाता हूँ और चुटकी में उस सर्वज्ञ का दम्भ तार-तार कर डालता हूँ।''

अभिमान की अंबाड़ी पर सवार होकर इन्द्रभूति भगवान महावीर को पराजित करने के लिये चल पड़ा। उसके साथ पाँच सौ शिष्यों का समूह था और वे ''जय वादीवेताल। वादीमद-भंजक। सरस्वती-कण्ठाभरण। सर्वज्ञ इन्द्रभूति की जय'' के गगन-भेदी घोष के साथ बिरूदावलि गाते जा रहे थे। परन्तु भगवान महावीर को देखते ही इन्द्रभूति वहीं शान्त हो गया और कहने लगा - अहो। यह कौन है ? क्या यह ब्रह्मा है ? विष्णु हैं ? महेश हैं ? सूर्य हैं ? यह है कौन ? अरे ये तो चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर हैं।''

वह यह विचार कर ही रहा था कि भगवान महावीर ने उसे मधुर भाषा में सम्बोधित किया, '' हे इन्द्रभूति गौतम। यहाँ आओ'' तत्पश्चात् उसके मन में वर्षों से घुटती हुई आत्मा विषयक शंका का वे समाधान करते हैं, इन्द्र भूति। तुम्हारे मन में आत्मा के सम्बन्ध में संशय है न ? उसका उत्तर यह है ''कहते हुए उन्होंने वेदों के उदाहरणों के द्वारा अत्यन्त ठोस तर्क से इन्द्रभूति की आत्मा-विषयक शंका का समाधान कर दिया।

अल्प समय के प्रभु के सत्संग ने इन्द्रभूति के जीवन में अद्‌भुत परिवर्तन कर दिया और अत्यन्त अभिमानी उसे भगवान के चरणों में उनका शिष्यत्व दिलाकर प्रथम गणधर 'विनय मूर्ति गौतम' के रूप में इतिहास में अमर कर दिया। वह चण्डकोशिया नाग, आया था प्रभु के चरण में काटने के लिये। अनेक कार डंक मार मार कर प्रभु को मृत्यु की नींद में सुलाने के लिये निरन्तर प्रयत्न करता रहाँ, परन्तु इन क्षणों में भी उसे प्रभु का संग प्राप्त हुआ और अन्त में 'हे चण्ड कौशिक। बोध प्राप्त कर, बोध प्राप्त कर। ऐसे अमृत-वचन श्रवण कर वह सुधर गया। अनशन करके लोगों द्वारा चढाये गये घी, दूध के कारण एकत्रित चींटियों के वज्रमुखी डंक से उसकी देह छलनी हो जाने पर भी वह अपूर्व क्षमा धारी होकर आठवें स्वर्गलोक में देव बना।

मुनि को मिथ्या सिद्ध करने वाले भील का जीवन मुनि के संग से परिवर्तित हो गया।

इन्द्रभूति अहंकार से भगवान महावीर से लड़ने गया और भगवान के सत्संग से वह 'विनय मूर्ति गौतम' हो गया। चण्डकोशियानेभगवान को डंक मारा और भगवान के प्राण हरने का प्रयास किया और इस प्रकार भी उनके संग से वह सुधर गया। परन्तु हम भगवान के चरणों का नित्य भक्ति-पूर्वक स्पर्श करने के लिये जाते हैं फिर भी नहीं सुधरें, संतो-सद्गुणों के नित्य प्रवचन सुन-सुनकर भी सीधे नहीं हो सके तो हम उस चण्डकोशि और भील से भी निम्न कोटि के हो गये और तो भी साँप जितनी योग्यता नहीं रखने वाले हम 'श्रावक' के रूप में अहंकार से भी मुक्त नहीं हैं? यह तो कितनी दु:खदायी बात है ?

सर्व प्रथम पात्रता प्राप्त करें, फिर देखें, संतो का संग हमारे जीवन के रंग में परिवर्तन लाता है अथवा नहीं ?

(नवाँ गुण)

माता-पिता की पूजा

मात-तात अरू गुरूजनों का, परिपूजक हो जाऊँ।

मातापित्रोश्च पूजक:।

(माता-पिता की पूजा)

माता-पिता के अपरम्पार उपकारों को सदा दृष्टिगत रखकर सदा विनय पूर्वक उनका सम्मान करने वाला, उनकी पूजा तथा सेवा करने वाला व्यक्ति 'कृतज्ञ' कहलाता है। आत्मा में धर्म का प्रारम्भ होता है - माता-पिता की पूजा से। माता-पिता का उपकार आकाश के समान असीम है। उनके उपकारों का विचार किये बिना जो व्यक्ति उनकी पूजा तथा भक्ति नहीं करता, उल्टी उनकी अवहेलना करता है, उनका तिरस्कार करता है, वह चाहे जितना धार्मिक हो तो भी उसका कोई मूल्य नहीं है।

जिस व्यक्ति में प्रारम्भिक धार्मिक के ही लक्षण नहीं हैं, वह बाह्य दृष्टि से यदि उच्च कोटि के विरति आदि धर्मों का पालक हो तो भी नींव विहीन सत्ताईस मंजिल के भवन के समान उसके उन धर्मों का मूल्य क्या ? उसकी आयु कितनी हैं ? कुणाल की पितृ भक्ति वाले इस देश की संस्कृति को जब भारत की सन्तान भूलने लग गई है तो 'माता-पिता की पूजा' नामक इस गुण की बात अत्यन्त पुष्टता से करने की अब अत्यन्त आवश्यकता होती है।

मार्गानुसारी आत्मा का नवाँ गुण है - माता-पिता की पूजा।

मार्गानुसारी आत्मा का नवाँ गुण है - माता-पिता की पूजा।

हम पर अपरिमित उपकार है माता और पिता का। उनका उपकार सतत स्मरण रख कर, उनके प्रति अत्यन्त विनीत भाव से जो उनकी पूजा एवं भक्ति करता है वह माता-पिता का पूजक है, सच्चे अर्थ में 'कृतज्ञ' है।

आदि-धार्मिक कौन ?

जैन शास्त्रों का कथन है - जीव का आदि धार्मिक लक्षण क्या है ? आदि-धार्मिक अर्थात् प्रारम्भिक धार्मिक व्यक्ति। आदि-धार्मिक व्यक्ति किसे कहा जाये ?

उत्तर है - जो माता-पिता का पूजक है वह आदि-धार्मिक कहलाता है। अत: स्पष्ट है कि माता-पिता की सेवा एवं पूजा से ही धर्म का प्रारम्भ होता है। जिस माता-पिता की पूजा को शास्त्र इतना महत्व प्रदान करते हैं उसे यदि हमने अपने जीवन में से निकाल दिया तो समझ लेना कि हमारा जीवन अकारथ चला गया। हम चाहे जितनी धर्म-क्रिया करते हों परन्तु हमारी उस धर्म-क्रिया की नींव ही नहीं है। अत: नींव विहीन धर्म का भव्य भवन भी एक दिन ध्वस्त हो जायेगा, गिरकर चकनाचूर हो जायेगा।

माता-पिता की पूजा होती है, उन पर दया नहीं -

यह सतत ध्यान में रखना चाहिये कि माता-पिता द्वारा किये गये उपकारों की स्मृति के रूप में उनकी सेवा और पूजा करनी है, उन पर दया अथवा करूणा नहीं करनी हैं, क्योंकि जिन पर आप दया करते हैं जिनके प्रति करूणा प्रदर्शित करते हैं उनका हाथ सदा नीचे रहता है और दया एवं करूणा के कर्त्ता के रूप में आपका हाथ सदा उपर रहता है। अत: दया-कर्त्ता की अपेक्षा उसे स्वीकार करने वाला व्यक्ति सदा नीचा समझा जाता है, जबकि माता-पिता किसी भी स्थिति में हो, वे सामान्य निर्धन स्थिति में रहे हों और आप भारी धंधा-व्यवसाय करके आगे आ गये हो, कदाचित करोड़पति भी होगये हों, तो भी आपके पिता सदा आपके लिये पूजनीय ही माने जायेंगे क्योंकि पिता के कारण ही तो आज आपका अस्तित्व है। दु:खदायी स्थिति में भी आपके पिता और माता ने आपको पाल-पोष कर बड़ा किया, तब सुखदायी स्थिति में आप उनको सम्हालो-सेवा करो उसमें आप तनिक भी उन पर उपकार नहीं करते, बल्कि यदि आप ऐसा करते हैं तो आप अपराधी हैं।

क्या माता-पिता देव तथा गुरू की अपेक्षा भी महान् हैं ?

प्रश्न - श्री जिनेश्वर भगवान एवं सद्गुरूओं का हम पर महान् उपकार है, फिर भी 'आदि-धार्मिक' के रूप में लक्षण बताते हुए 'माता-पिता का वहपूजक' होता है यह क्यों कहा ? क्या माता-पिता जिनेश्वर भगवान अथवा सद्गुणों से भी महान् हैं ?

उत्तर - प्रश्न अत्यन्त रोचकहै, परन्तु इसका उत्तर इससे भी रोचक है। श्री जिनेश्वर भगवान विश्व के समस्त जीवों के आत्म-कल्याण के सदैव हित-चिन्तक हैं, इतना हीं नहीं वे मुक्ति मार्ग के मंगल पथ-प्रवर्तक भी हैं। अत: वे इस विश्व के सर्वोत्तम उपकारी हैं।

द्वितीय श्रेणी के उपकारी हैं सद्‌गुरू भगवंत जो हमें सद्धर्म का पथ बतलाते हैं, हमें धर्म-देह प्रदान करते हैं, हमारा आध्यात्मिक निर्माण करते हैं। आध्यात्मिक निर्माण एवं आत्म-सुख के सच्चे पथ-प्रदर्शक अरिहंत भगवान और सद्‌गुरूदेव हैं। अत: उनका उपकार अनन्त है फिर भी अरिहंतो का अमूल्य जिन-शासन और सद्‌गुरूदेवों द्वारा समझाया हुआ सद्धर्म यह सब किसके प्रताप से प्राप्त हुआ ? माता-पिता के प्रताप से।

यदि माता-पिता ने हमें जन्म नहीं दिया होता, जीवन हीं दिया होता और दूसरे भी महत्वपूर्ण उत्तम संस्कार यदि हमें में नहीं डाले होते तो क्या हम सद्‌गुरूओं तक पहुंच पाते ? नहीं, कदापि नहीं। जिस प्रकार जिन-शासन और सद्‌गुरू हमें धर्म-देह प्रदान करते हैं और हमारा आध्यात्मिक निर्माण करते हैं, उसी प्रकार से माता-पिता हमें तन प्रदान करते हैं और हमारा सांसारिक एवं व्यावहारिक निर्माण करते हैं।

माता-पिता का मानव देह एवं उत्तम प्राथमिक संस्कारों के प्रदान करने का उपकार प्रत्यक्ष है, निकटस्थ है। जिसे यह नहीं दिखाई देता हो वह गुरूओं एवं अरिहंतो के परोक्ष उपकार को कैसे देख सकता है ? जो व्यक्ति माता-पिता के सांसारिक उपकार को भी स्वीकार करने के लिये तत्पर नहीं है वह देव एवं गुरू के आध्यात्मिक उपकारों का किस प्रकार स्वागत कर सकेगा ?

माता-पिता का उपकार आकाश जितना -

जिस माता ने हमें जन्म दिया, जन्म देने से पूर्व नौ-नौ माह तक गर्भावस्था की पीड़ा सहन की, प्रसूति की भयंकर वेदना सहकर भी जिसने हमें जीवन दिया, तत्पश्चात् बाल्यकाल में हमें अपना दुग्ध पान कराया जिसके लिये उसने अपना सहज सौन्दर्य खोया, निर्धनता में भी जिसने स्वयं आधी भूखी रहकर हमें पूरा भोजन कराया - हमारी उदर पूर्ति की, बचपन में अज्ञानवश हमारे द्वारा पेशाब किये हुए भीगे बिस्तर पर सोकर जिसने हमें सूखे स्थान पर सुलाया, हमारे मल-मूत्र को भी जिसने तनिक भी मुँह बिगाड़े बिना धोया, स्वच्छ किया, हमें सुसंस्कारी बनाने के लिये जिसने अथक परिश्रम किया उस माता का हम पर कितना उपकार ? आकाश जितना असीम।

जिस पिता ने निरन्तर नौकरी-धंधा करके हमारे लिये धन उपार्जित किया, जिसकी प्राप्ति के लिये जिसने कभी-कभी अकरणीय अन्याय एवं अनीति भी की और हमें खान-पान, वस्त्र आदि की जीवन निर्वाह हेतु आवश्यक समस्त वस्तुएँ प्रदान की, जिसने अपने जीवन के बहुमूल्य समय की अनेक वर्षों की हमारे लिये बलि दी, समय-समय पर प्यार एवं प्रकोप करके जिसने हमारे संस्कार-निर्माण की समस्त चिन्ता की उस पिता का हम पर कितना उपकार ? आकाश जितना अनन्त।

ऐसे असीम एवं अपार उपकारी माता-पिता की पूजा करने वाले व्यक्ति को शास्त्रों ने आदि-धार्मिक बताया वह सर्वथा यथार्थ ही है और इसके विपरीत जो ऐसे उपकारियों का उपकार स्मरण नहीं रखता, निरन्तर याद नहीं रखता उसे शास्त्र 'कृतघ्न' कहते हैं। उस प्रकार के 'कृतघ्न' व्यक्ति में धर्म प्राप्त करने की प्राथमिक पात्रता भी नहीं है।

डॉ. टोडरमल की प्रेरक घटना -

डॉ. टोडरमल की सच्ची घटना अत्यन्त प्रेरक है। डॉक्टर टोडरमल अत्यन्त ख्याति-प्राप्त डॉक्टर होने के पश्चात् भी उनकी माता उन्हें सदा 'बेटा टोडर' कह कर ही पुकारती। माता के लिये तो चाहे जितना प्रसिद्ध पुत्र भी अन्त में पुत्र ही है न ? परन्तु किसी भी कारण से यह बात डॉक्टर टोडरमल नहीं समझा। इस कारण इतना प्रसिद्ध होने के पश्चात् भी उन्हें उनकी माता 'टोडर' कह कर पुकारे यह उन्हें उचित नहीं प्रतीत होता था। अत्यन्त समय से मन में घुटती हुई बात को उन्होंने अपनी माता को कह दी ''माँ। अब मैं जब इतना विख्यात डॉक्टर हो गया हूँ तब भी तू मुझे टोडर कहकर पुकार यह उचित नहीं है। अत: भविष्य में तू मुझे 'टोडरमल' कहकर पुकारना।'' माता को पुत्र की इस बात पर आश्चर्य होने के साथ भारी आघात लगा। रात्रि होने पर उसने टोडरमल को कहा ''पुत्र। आज रात्रि में तू मेरे ही साथ मेरे बिस्तर में सोये और मैं कहूँ उस प्रकार तू करे तो ही मैं तुझे कल से टोडरमल के मानयुक्त नाम से बुलाऊंगी।''

डॉक्टर ने माता की बात स्वीकार कर ली। रात्रि में घोर नींद में सोये हुए डॉक्टर को जगाकर माता ने कहा ''पुत्र। मुझे पानी पिला।'' डॉक्टर ने उत्तर दिया ''माँ। नौकर से मंगवा ले, मुझे अत्यन्त नींद आ रही है।'' माता ने कहा ''पुत्र। पानी तुझे ही लाना पड़ेगा।'' तब विवश होकर डॉक्टर उठा और उसने माता को पानी लाकर दिया। माता ने कुछ पानी पीया और शेष बिस्तर में गिरा दिया। टोडरमल तुरन्त अकुला उठा। वह भीगा बिस्तर छोड़कर अन्य बिस्तर पर सोने के लिये जाने लगा। तब माता ने उसे रोककर कहा ''पुत्र। तुझे इस गीले बिस्तर में ही सोना है। यह तो पानी से ही गीला बिस्तर है, परन्तु तू जब छोटा था तब बार-बार बिस्तर में मूत्र करता था तो भी मूत्र से गीले बिस्तर में मैं तनिक भी मुँह बिगाड़े बिना सोई रहती थी और आज एक दिन भी तू गीले बिस्तर में नहीं सो सकता। माता के उपकार का तनिक विचार कर।'' यह बात सुनकर डॉक्टर टोडरमल का मिथ्याभिमान पिघल गया और तत्पश्चात् वह माता का अत्यन्त पूजक हो गया।

माता-पिता का उपकार क्या ?

एक दिन एक युवक ने किसी चिन्तक को प्रश्न किया ''हम पर माता-पिता का उपकार क्या ? यह तो वे अपना सांसारिक भोगमय जीवन यापन करते थे, उससे हमारा जन्म हो गया, इसमें

उपकार कैसा ?'' कैसा विकृति युक्त प्रश्न है। वर्तमान शिक्षा प्राप्त करके केवल बुद्धिजीवी बना युवक क्या ऐसे ही कुतर्क करेगा ? वह चिन्तक प्रतिभाशाली था। उसने कहा, मित्र। थोड़े समय के लिये मान ले कि तुम्हारी बात सत्य है परन्तु तुझे और मुझे, तेरी और मेरी माता ने गर्भावस्था में हमें जीवित रहने दिया और नौ-नौ माह तक अपने उदर में लिये हुए वह घूमी, भयानक पीड़ा सहन करके हमें जन्म दिया और आज तक जीवित रहने दिया, यह वर्तमान गर्भता के क्रूर एवं नृशंस युग में माता का उपकार है अथवा नहीं ? उसने गर्भावस्था में हमारे जीव का गर्भपात करा दिया होता तो उनके भोग-विलासमय जीवन को कही भी आंच आने वाली नहीं थी। परन्तु हम जीवित है यही उन माता-पिता का कैसा अद्भुत उपकार है ?

स्मरण रहे- इस प्रकार के प्रश्न वर्तमान अति बुद्धिवाद और विलासिता की विकृति का परिणाम है। हमें उनमें बहना नहीं चाहिये। गर्भावस्था में भी माता ने हमारे लिये कितनी कितनी चिन्ता की है ? माता की कोई अल्प भूल भी बालक की देह, मन और संस्कारों के लिये अत्यन्त हानिप्रद हो सकती है। कल्पसूत्र ग्रंथ में सुबोधिका टीका के कर्त्ता महर्षि-पुरूष ने गर्भवती स्त्री के अत्यन्त रूदन, हंसी, अंजन आदि को तथा काम-सेवन आदि की बालक को कितनी हानि उठानी पड़ती है जो विस्तार पूर्वक स्पष्ट किया गया है, जिसे भाविक श्रोता आदि व्यवस्थित रूप से श्रवण करते होंगे तो उसका उन्हें ध्यान होगा।

माता-पिता द्वारा प्राप्त देह का कितना मूल्य ?

इस समस्त चिन्ता-जनक स्थिति में से हमारी माताओं ने हमें सकुशल निकाल दिया और हमें सर्वांग परिपूर्ण मानव देह समर्पित की, यह उपकार क्या कम हैं ? यदि कोई सेठ हमें धंधे में सहायता करता है, धन-सम्पत्ति प्रदान करता है, सस्ते किराये में आवास हेतु घर देता है, आपत्ति के समय कोई हमारी धन से, मन से, हिम्मत बंधाकर अथवा समय एवं शक्ति से हमारी सहायता करता है तब उन-उन व्यक्तियों का हम कितना उपकार मानते हैं ? विशिष्ट उपकारी-पुरूषों का उपकार हम आजीवन नहीं भूलते। वर्षों के पश्चात् यदि वे उपकारी व्यक्ति हमें मिलें तो उनके प्रति हमारा हृदय सद्भाव से गद्गद् हो जाता है। सज्जन मनुष्य का हृदय पुकार उठता है कि 'इस उपकारी का बदला मैं किस तरह, कैसा अवसर प्राप्त होने पर चुका सकता हूँ ?'' तो फिर जिन्होंने हमारे समस्त सांसारिक सुखों की मूल कारण स्वरूप मानव देह हमें अर्पित की उन माता-पिता का उपकार कितना गुना होगा, उस का लेखा-जोखा कभी कर देखा।

यदि माता-पिता के द्वारा सुरक्षित मानव-देह हमें प्राप्त नहीं हुई हो तो धन-सम्पत्ति का, मकान का अथवा अन्य किसी शारीरिक-मानसिक उपकार का हमारे लिये फूटी कौड़ी जितना भी मूल्य होता ? अरे। धन, मकान अथवा कोई अन्य सुख-सामग्री तो साधन है, भोग्य है, परन्तु इन सबकी भोक्ता मानव देह ही न हो तो उस धन आदि का मूल्य कितना ? मिट्टी जितना, कदाचित्

उतना भी नहीं।

मानव देह के एक-एक अंग-उपांग का यदि रूपयों में मूल्यांकन किया जाये तो करोड़ो रूपयों में भी उक्त मूल्यांकन नहीं हो सकता, तो फिर अंग-प्रत्यंग से परिपूर्ण सम्पूर्ण मानव देह का मूल्य कितना ? और इस प्रकार की देह-दाता माता-पिता का उपकार कितना ? महासागर जितना अपार।

'वृद्धाश्रमों' का प्रारम्भ एवं प्रचलन हृदय-विदारक -

भारतीय संस्कृति में जो मूलभूत एवं महत्वपूर्ण आर्ष-वचन हैं उनमें 'मातृ देवो भव' - 'पितृ देवो भव' - 'आचार्य देवो भव' आदि वचन सम्मिलित हैं। इनका अर्थ है कि ''माता को देव तुल्य मानो, पिता को देव तुल्य मानो, आचार्य (शिक्षक अथवा धर्म गुरू) को देव तुल्य मानो।'' भारत वर्ष में उत्पन्न भारतवासियों का पुण्य है कि उन्हें ऐसे अद्‌भुत संस्कार उत्तराधिकार में प्राप्त हुए हैं। अमेरिका अथवा रूस मे तो वृद्ध माता-पिताओं को वृद्धाश्रमों में भेज देने की एक फैशन हो गई है। अत: उन देशों के निवासियों से 'माता-पिता की पूजा' के गुण की अपेक्षा ही कैसे की जा सकती है ? दु:ख की बात तो यह है कि भारतीय भव्य संस्कृति की जाज्वल्यमान गौरव-गाथाओं को भूलकर हम भी अमेरिका एवं रूस की भौतिकवाद सम्बन्धी अंधी-दौड़ के पीछे पागल हो गये हैं। 'मातृ देवो भव' एवं पितृ देवो भव का पाठ पढाने वाले भारतवर्ष में आज 'वृद्धाश्रमों' का प्रारम्भ हो चुका है यह बात कितनी हृदय-विदारक है ?

प्रारम्भिक प्रन्द्रह दिनों का मातृ-उपकार

राजकोट के अनाथ-आश्रम के प्रमुख संचालक महोदय ने एक मुनिराज श्री को बताया कि हमारे अनाथआश्रम में यदि माता के द्वारा प्राम्भिक पन्द्रह दिनों में ही नवजात शिशु को त्याग दिया गया हो तो उसकी सुरक्षा का अत्यन्त ध्यान रखने पर भी वह बच नहीं पाता। जाँच करने पर निष्कर्ष निकला कि जन्म के पश्चात् प्रारम्भिक पन्द्रह दिनों तक शिशु को माता की पूरी हूँक प्राप्त होनी ही चाहिये। यदि वह हूँक प्राप्त न हो तो उच्च कोटि की सावधानी रखने पर भी वह नव-जात शिशु जीवित नहीं रखा जा सकता। यह बात ज्ञात होने पर हमारी सबकी माताओं ने गर्भावस्था से लगाकर *जन्म देने के पन्द्रह दिनों तक हमें वात्सल्यपूर्ण हूँक प्रदान की और हमें जीवन प्रदान किया* - इस एक ही उपकार का बदला समस्त जीवन पर्यन्त उनकी सर्वोत्तम भक्ति करके भी चुकाया नहीं जा सकता। यह बात हमें स्वीकार करनी पड़ेगी।

तत्पश्चात् बालक के पालन-पोषण के लिये माता सतत चिन्ता रखती है। उसे बड़ा करने में, उसके मल-मूत्र आदि साफ करने से लगाकर पाठशाला में पढने भेजने तक अपार धन का व्यय करने में, युवावस्था प्राप्त होने पर उसे नौकरी-धंधे पर लगाने अथवा उसका विवाह करने तक के

अनेक उपकारों का यदि विचार किया जाये तो उसकी एक लम्बी सूची होगी। ऐसे असंख्य उपकार करने वाले माता-पिता की पूजा-भक्ति करने का सतपुरूषों का सदुपदेश पूर्णत: यथार्थ ही है। ऐसे माता-पिता के चरणों में प्रात: उठकर नमस्कार करना प्रत्येक पुत्र का अनिवार्य कर्त्तव्य है। माता-पिता के चरण-स्पर्श करने से संस्कार से कैसी उत्तम स्थिति का सृजन होता है उस सम्बन्ध में एक सत्य घटना यहाँ प्रस्तुत है।

पुत्रों के संस्कार ने पिता को सुधारा -

बम्बई के माटुंगा उपनगर के वे करोड़पति सेठ थे। उन्होंने अपने दोनों युवा पुत्रों को एक पूज्य आचार्य भगवंत द्वारा आयोजित ज्ञान-शिविर में भेजा। आचार्य श्री के परिचय एवं ज्ञानोपदेश द्वारा माता-पिता के उपकार का ज्ञान होने पर जब वे अपने पिता के चरण-स्पर्श करने के लिये गये तब उनके पिता पुत्रों के जीवन में इतना परितर्वन देखकर आश्चर्य चकित हो गये। पिता ने पुत्रों को पूछा ''पुत्रो। आज कोई विशेष प्रयोजन नहीं है फिर भी तुम मेरे चरण स्पर्श करने के लिये क्यों आये है ?'' तब उन्होंने ज्ञान-शिविर में माता-पिता के उपकारों से परिचित होने तथा भविष्य में नित्य प्रात:काल में उनके चरण-स्पर्श करने के अपने सकल्प की बात कही, तो तुरन्त पिता ने दोनों पुत्रों के चरण-स्पर्श करने से रोका और वे समीपस्थ कक्ष में चले गये। कुछ ही क्षणों में पिता पुन: बाहर के कक्ष में आये और उन्होंने पुत्रों से कहा - ''अब तुम मेरे चरणों का स्पर्श कर सकते हो।'' तब पुत्रों ने पूछा ''पिताजी। अब क्यों ? आप भीतर क्यों गये थे ?''

पिता ने उत्तर दिया, ''पुत्रों। तुम ज्ञान-शिविर से माता-पिता के चरण स्पर्श करने का संस्कार लाये हो, परन्तु मुझे तो आज तक यह संस्कार प्राप्त नहीं हुआ था। मैंने अपने माता-पिता को कदापि नमस्कार नहीं किये, परन्तु जब आज तुम मुझे नमस्कार करने के लिये आये तब मुझे विचार आया कि जबतक मैं अपनी जीवित माता के चरणों में नमस्कार न करूं तब तक तुम्हारा नमस्कार (पाय लागन) स्वीकार करने का मुझे कोई अधिकार नहीं है। पुत्रो। तुम्हारे इस उत्तम संस्कार ने मुझ में भी *मातृ-पूजा के संस्कार को आज जीवित कर दिया।''*

पिता की बात सुनकर पुत्रों की आँखों में भी हर्षाश्रु उमड़ आये। बात यह है कि सन्तानों को प्राप्त उत्तम संस्कार कभी - कभी घर के माता-पिता आदि परिवारजनों के लिये भी सुन्दर प्रेरणा के निमित्त बन जाते हैं।

कुणाल की पितृ-भक्ति -

कुणाल की अदभुत पितृ भक्ति का उदाहरण इतिहास में प्रसिद्ध है। सम्राट अशोक महान् के प्रिय पुत्र कुणाल की माता का उसके बाल्यकाल में ही निधन हो गया था। उसकी सौतेली माता

तिष्यरक्षिता को उसके प्रति अत्यन्त द्वेष था। वह उसे मार डालने का अवसर ढूँढती थी। सम्राट् अशोक को इस बात की भनक पड़ते ही उसने कुणाल को अध्ययन हेतु तक्षशिला भेज दिया। एक दिन उसकी कुशलता के समाचार लाने वाले दूत को मिल कर अशोक अत्यन्त प्रसन्न हुए और मंत्री द्वारा उसने पुत्र को उत्तर लिखवाया जिसमें एक वाक्य लिखवाया कि ''कुमार : अधीयताम्'' अर्थात् कुमार को अच्छी तरह अध्ययन कराना।

सौतेली माता ने गुप्त रीति से यह पत्र प्राप्त करके 'अधीयताम्' शब्द के 'अ' पर एक बिन्दी लगा दी, जिससे वाक्या बन ''कुमार : अंधीयताम्'' जिससे वाक्य का अर्थ पूर्णत : बदल गया कि ''कुमार को अंधा कर दें।'' जब दूत के द्वारा कुणाल को पत्र प्राप्त हुआ तब उसने पिता की आज्ञा क्रियान्वित करने के लिये अर्थात् अपनी आँखे फोड़ देने के लिये साथ में रहने वाले मंत्रियों को सूचित किया जब मत्रियों ने राजा के बुद्धि-भेद होने की सम्भावना व्यक्त करके कुमार की आँखे फोड़ने का स्पष्ट इनकार कर दिया, तब स्वयं कुणाल ने जलते हुए सुइये अपनी आँखों में घौंप कर अपनी दोनों आँखे फोड़ दी।

पिता की आज्ञा के प्रति कैसी अद्‌भुत भक्ति। कैसा आज्ञा-पालन इतिहास में कुणाल महान् पितृ-भक्त के रूप में विख्यात हुआ। वर्तमान सर्वथा कुणालों एवं केतनों का इतिहास लिखा जाये तो कदाचित् इससे सर्वथा विपरीत ही होगा।

आर्यरक्षित की मातृ-भक्ति -

आर्यरक्षित जब अनेक विद्याओं में पारंगत होकर अपने नगर में आये तब उनके स्वागतार्थ सैंकड़ो व्यक्ति वहाँ उपस्थित हुए, परन्तु उनके नेत्र अपनी माता को खोजते रहे। वह पुत्र का स्वागत करने के लिये आने के बदले घर में ही बैठी रही थी। जब आर्यरक्षित घर आकर सर्व प्रथम अपनी माता के चरणों में प्रणाम करने के लिये गया तब उसने माता के चेहरे पर उदासी देखी। उसने माता को पूछा ''माँ। जब सम्पूर्ण गाँव तेरे पुत्र के विद्या-प्राप्ति की प्रसन्नता में झूम रहा है तब तू सगी माता होकर आज उदास क्यों है ? सभी लोग गाँव के बाहर आये परन्तु तू मुझे लेने के लिये नहीं आई। ऐसी अप्रसन्नता का कारण क्या ?''

तब माता ने उत्तर दिया ''पुत्र । तू जो विद्यायें प्राप्त करके लौटा है वे विद्याऐं तो संसार की वृद्धि करने वाली हैं। उनका मैं क्या स्वागत करूँ। यदि तू आत्म-कल्याणकारी विद्याऐं प्राप्त करके लौटा होता तो अवश्य तेरी माँ दौड़ी हुई वात्सल्य पूर्वक तेरे स्वागतार्थ आती।''

'' तो माँ। तु मुझे शीघ्र बता कि आत्म-कल्याणकारी विद्या किसके पास प्राप्त होगी, जिससे तू प्रसन्न हो सके। जिससे तू प्रसन्न हो उसमें ही मेरी प्रसन्नता है।'' आर्यरक्षित ने अपनी माता को कहा। तब उसकी माता ने उसे अपने मामा आचार्य महाराज के पास जाने की बात कही। उसी

समय उसने अपने मामा के पास जाने के लिये प्रस्थान किया। वहाँ पहुंचने पर आचार्य महाराज ने कहा ''हमारे पास आत्म-कल्याणकारी विद्याऐं तो हैं, परन्तु उन्हें प्राप्त करने के लिये तुझे संसार का त्याग करके दीक्षा ग्रहण करनी पड़ेगी। बोल, तैयार हैं ?''

''गुरूदेव। जिस काम में मेरी माता प्रसन्न होती हो उसके लिये मैं पूर्णत: तैयार हूँ। आप मुझे दीक्षित करें और वे आत्म-कल्याणकारी विद्याएँ मुझे प्रदान करें, ''आर्यरक्षित ने कहा। आचार्य महाराज ने उसे दीक्षित कर दिया, शास्त्रों के मर्मों एवं तत्वों का अध्ययन कराया और परिणाम-स्वरूप जैन जगत् को एक परम विद्वान युग-प्रधान जैनाचार्य भी आर्यरक्षितसूरिजी की प्राप्ति हुई। यदि आर्यरक्षित में मातृ-भक्ति नहीं होती तो क्या वह केवल माता की प्रसन्नता के लिये मामा-आचार्य के पास जाता ? नहीं जाता, और क्या जैन संघ को महान् आचार्य की प्राप्ति संभव होती ? नहीं, इसका अर्थ यह हुआ कि आर्यरक्षित के आत्म-कल्याण में और जैन संघ के महान् आचार्य प्राप्त करने में आर्यरक्षित की मातृ-भक्ति ही श्रेष्ठ निमित्त बनी।

श्री हेमचन्द्रसूरीश्वरजी की मातृ-भक्ति -

माता-पिता की भक्ति तो जीवन में समस्त सद्‌गुणों का मंगलमय कारण है। कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य भगवान् श्री हेमचंद्रसूरीश्वरजी महाराजा की माता-साध्वी पाहिनी के देहान्त के समय जब जैन संघ ने साढे तीन करोड़ रूपये सुकाम में व्यय करने की घोषणा की, तब आचार्य महाराज ने अपनी माता की मृत्यु के निमित्त पुण्यार्थ साढे तीन लाख नूतन श्लोकों की रचना करने की घोषणा की थी, जिसके फलस्वरूप 'त्रिषष्टि श्लाका पुरूष चरित्र' जैसे विशालकाय महान् ग्रन्थ की श्री जैन संघ को प्राप्ति हुई। इसका कारण कलिकाल सर्वज्ञ भगवंत की अपनी माता के प्रति अद्‌भुत भक्ति ही है।

श्री रामचंद्रजी की पितृ-भक्ति -

श्री रामचंद्रजी की पितृ-भक्ति तो इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित है। राम के पिता दशरथ जब किसी अन्य राजा के साथ युद्ध कर रहे थे तब भरत की माता कैकेयी ने रथ चलाने में ऐसी दक्षता प्रदर्शित की कि दशरथ ने प्रसन्न होकर उसे वरदान दिया था, जिसे कैकेये ने उसे थाती के रूप में उनके पास रखा ताकि समय पड़ने पर वह उसे माँग सकें। जब राम का राज्याभिषेक करने की बात चली तब कैकेयी ने सोचा ''यदि राम राजा हो जायेंगे तो मेरे पुत्र भरत का क्या होगा ?'' अत: वह शीघ्र दशरथ के पास पहुँची और थाती के रूप में रखा हुआ अपना वरदान माँगा कि ''मेरे भरत को राज्य-सिंहासन पर बिठाया जाये।''

यह सुनते ही राजा दशरथ व्याकुल हो गये। कैकेयी अपने वरदान की माँग पर अटल रही।

राम जैसे ज्येष्ठ एवं समर्थ पुत्र विद्यमान हो तो भरत को राज्य-सिंहासन पर कैसे बिठाया जा सकता है ? इस प्रकार दशरथ अत्यन्त परेशानी में पड़ गये। पिता की व्याकुलता दूर करने और उनका मार्ग निष्कंटक करने के लिये अत्यन्त प्रसन्नता पूर्वक राम ने वनवास जाने का निश्चय किया और इस प्रकार अपनी अद्वितीय पितृ-भक्ति के द्वारा भारत के सन्तानों के लिये अपार आदर्श बता कर राम भारत के एक महा-पुरुष के रूप में विख्यात हुए।

माता-पिता के अप्रतिकार्य उपकार -

शास्त्रों ने माता-पिता के उपकारों को 'अप्रतिकार्य' बताया है। अप्रतिकार्य से तात्पर्य है कि जिनका बदला नहीं चुकाया जा सके वे। बात भी सत्य है क्योंकि बाल्यावस्था और अज्ञान अवस्था में माता-पिता ने जो उपकार किये हैं उनसे अनेक गुनी माता-पिता की सेवा पुत्र करे तो भी उसका बदला नहीं दिया जा सकता। पुत्र के बचपन, अज्ञान एवं अशक्ति के जैसी दशा तो माता-पिता की कदापि होती ही नहीं, जिससे माता-पिता की सेवा करने का अवसर तो प्राप्त होता ही नहीं। तदुपरान्त माता-पिता ने पुत्र में जो धार्मिक एवं व्यावहारिक सुसंस्कार भरे हैं, उसे न्याय, नीति, सदाचार, विनय, सेवा-करूणा आदि की उच्च शिक्षा प्रदान की है उन उपकारों का बदला तो अपनी चमड़ी के मोजे बनाकर माता-पिता को पहनाये तो भी नहीं चुकाया जा सकता। इस कारण ही तो कहा है कि ''एक माता जो संस्कार एवं सच्ची शिक्षा प्रदान कर सकती है वह शिक्षा एक हजार शिक्षक भी प्रदान नहीं कर सकते।''

माता-पिता के 'अनुकम्पा-प्रेरित' मृत्यु की नीच बात -

माता-पिता के ऐसे असीम उपकारों की बात के समक्ष जब वृद्धावस्था एवं रोग से पीड़ित माता-पिता को मारकर उन्हें तुरन्त दुःख-मुक्त करने की और ऐसी मृत्यु को 'अनुकम्पा-प्रेरित मृत्यु' का सुन्दर नामकरण करने की जो बातें आज चल रही हैं उसका विचार करने पर कलेजे में काला नाग काटने की भीषण वेदना जागृत होती है। मृत्यु और फिर अनुकम्पा (दया) से प्रेरित! कैसी विसंवादी बातें हैं! कैसी मूर्खता! भारतीय संस्कति में किसी की किसी भी परिस्थिति में हत्या करना क्रूरता मानी जाती है, क्योंकि कोई भी जीव चाहे जैसी अवस्था दशा में हो मरना नहीं चाहता। जिसे मरना नहीं है उसे मार डालने की प्रवृत्ति क्रूरता नहीं है तो और क्या हैं ?

उसमें भी यह तो असीम उपकारी माता-पिता के रोग-ग्रस्त होने से उन्हें मार डालने की बात है। इसे दुष्टता की पराकाष्ठा नहीं कहा जाये तो क्या कहा जाये ? सत्य बात तो यह है कि माता-पिता को दुःख-मुक्त करने की बात वे बहाने उन्हें मृत्यु के मुँह में धकेल कर उनकी सेवा-सुश्रुषा करने के कष्ट में से हम ही मुक्त होकर शान्ति अनुभव करते हैं।

दो युवकों ने केन्सर से पीड़ित अपनी माता को उसे रोग-मुक्त करने के लिये उसकी ही साड़ी का फन्दा बनाकर उसके गले में डाल कर उसको मार दिया था। हे भारत की सन्तान । कैसी तेरी अधम मनोदशा। विश्व के माता-पिता की पूजा करने के उपदेशक संत जिस भूमि में उत्पन्न हुए, उसी भूमि पर माता को मौत के घाट उतारने वाले नर-राक्षस पुत्र भी उत्पन्न होते हैं - यह कितनी दुःखदायी बाता है।

पिता को निकालने वाला दुष्ट पुत्र

माता-पिता के उपकारों की धज्जियों उड़ाने वाले एक अन्य पुत्र की बात स्मरण हो आई है। काली-मजदूरी करके पिता ने कुछ पैसे एकत्रित किये और पुत्र होशियार होकर धन उपार्जित करके वृद्धावस्था में अन्तड़ियों को शीतल करेगा इस आशा से उसने उसे विदेश भेजा। विदेश में अध्ययन करते - करते वह किसी सुन्दरी अंग्रेज कन्या के प्रेम में फंस गया, उसने वहीं उसके साथ विवाह कर लिया और वहीं जम गया।

प्रारम्भ में तो पुत्र के पत्र आते रहे, परन्तु कुछ समय पश्चात् पत्र आने बन्द हो गये, जिससे माता के हृदय में चिन्ता हुई कि पुत्र सकुशल तो होगा न ? प्रतिपल पुत्र के मंगल की चिन्ता करने वाली माता ने अपने आभूषण बेचकर विदेश जाने के किराये के रूपये देकर पति को पुत्र का पता लगाने के लिये विदेश भेजा।

अनेक कठिनाइयों से वहाँ पहुँचने के पश्चात् जब अपने प्राङ्गण में पुत्र ने पिता को देखा तो उसके मन में विचार आया ''यह काला-कलूटा मेरा पिता है-यह बात जबमेरी अंग्रज पत्नी को ज्ञात होगी तो उसे कितनी घृणा होगी ?'' अत: उसने द्वार में प्रविष्ट होते पिता को धक्का मारकर तिरस्कृत करके वहाँ से निकाल दिया। बिचारा पिता इस आघात से आहत हो गया। कैसा नीच, क्रूर एवं अधम पुत्र। ऐसे पापी पुत्रों का बोझ यह पृथ्वी कैसे उठाती होगी, यह एक प्रश्न है। परन्तु स्मरण रखना, कि ऐसे पापी मनुष्य जीवन में कदापि सुखी और प्रसन्न नहीं हो सकते। उनके जीवन में ऐसी कोई दुर्घटना हो जाती है जो उनके जीवन के समस्त स्वप्नों एवं आशाओं को चूर-चूर कर देती हैं।

प्रभु महावीर का उत्तम दृष्टांत -

माता और पिता की भक्ति का सर्वोत्तम दृष्टांत है भगवान महावीर का। उसी जन्म में जो तीर्थंकर होने वाले हैं, त्रिलोक-नाथ होने वाले हैं, जिन्हें गर्भ में ही मति, श्रुत एवं अवधि ज्ञान होता है, और जिनके च्यवन, जन्म तथा दीक्षा आदि कल्याणकों को देवराज इन्द्र एवं देवतागण अनन्य भक्ति-भाव से मनाते हैं उन तीर्थंकर भगवंतो की आत्मा भी अपने गृहस्थ जीवन में माता और पिता की उत्तम भक्ति करती हैं। जब भगवान महावीर की आत्मा गर्भ-काल में थी तब अपनी माता को कष्ट

न हो उस कारण उन्होंने अपना गर्भ स्थिर किया, परन्तु उससे तो माता को सन्देह हुआ कि कहीं मेरे गर्भ की मृत्यु तो नहीं हो गई ? और उस सन्देह के कारण माता कल्पान्त करने लगी। जब भगवान को ज्ञात हुआ कि मेरी माता की पीड़ा दूर करने के लिये मैं स्थिर हुआ जो उसके लिये दु:खदायी सिद्ध हुआ अत: उन्होंने तुरन्त हलन-चलन प्रारम्भ किया, जिससे माता की चिन्ता दूर हुई।

इससे प्रभु को विचार आया कि जिस माता ने अभी तक मेरा चेहरा तक नहीं देखा फिर भी जिससे इतना मोह है वह भविष्य में मेरे दीक्षा ग्रहण करने के कारण कहीं मर तो नहीं जायेगी ? और यदि ऐसा ही कुछ अमंगल हो गया तो भविष्य में जगत् को माता-पिता की भक्ति का उपदेश देने वाला मैं ही अपने माता-पिता के अहित का कारण बन जाऊंगा इस प्रकार न हो उसके लिये भगवान ने उसी समय अभिग्रह ग्रहण किया कि ''जब तक मेरे माता-पिता जीवित होंगे तब तक मैं दीक्षा ग्रहण नहीं करूंगा।'' इस अभिग्रह के द्वारा मानो प्रभु गर्भकाल में रहे परन्तु माता-पिता की भक्ति करने का इस विश्व के जीवों को उपदेश दे रहे हैं।

यदि स्वयं भगवान भी अपने माता-पिता की ऐसी और इतनी भक्ति करते हैं तो हमारा तो उन भगवान के भक्त के रूप में माता-पिता की सेवा-पूजा करने का भगवान की आज्ञा पालन करने का कर्त्तव्य है अथवा नहीं ?

माता-पिता की भक्ति के प्रकार -

माता-पिता की भक्ति के अनेक प्रकार हैं। नित्य उनके चरण-स्पर्श करना, उनके पाँवों में दर्द हो तो दबाना, उनका चित्त प्रसन्न हो वैसा व्यवहार करना, उनकी आशाओं का पालन करना (यदि वे जिनाज्ञा से विरूद्ध नहीं हो तो) उनकी सेवा-भक्ति करना, उन्हें भोजन-पानी के प्रबन्ध में विशेष अनुकूलता कर देना, उनकी अनुकूलता-प्रतिकूलता का ध्यान रखना, उनकी अस्वस्थता के समय विशेष भक्ति करना तथा औषधि आदि का प्रबन्ध करना, उनके प्रति कटु वचन अथवा क्रोधमय वाणी का प्रयोग नहीं करना, दूसरों के समक्ष भी उनका सम्मान करना, पत्नी आदि के कारण उनके साथ दुष्टता नहीं करना, जगत् के उत्तम पूज्य के रूप में उनकी समस्त प्रकार से पूजा सुश्रुषा करना। इस प्रकार 'माता-पिता की पूजा' नामक गुण की आराधना करके मानव जीवन को सार्थक करें।

(दसवाँ गुण)

उपद्रवयुक्त स्थान का त्याग

उपद्रवी स्थान पर नहीं बसिये..........

त्यजन्नुपप्लुतं स्थानं,
(उपद्रवयुक्त स्थान का परित्याग)

जैन शास्त्रकार संसारी जीवों को यह भी समझाते हैं कि कैसे स्थान पर रहना चाहिये और कैसे स्थान का परित्याग करना चाहिये। जिस स्थान पर भय हो, उपद्रव हो, दंगा हो, तोड़-फोड़ होती हो ऐसे स्थान का परित्याग करना चाहिये। जहाँ बार-बार अकाल पड़ता हो, जहाँ सद्गुरूओं का संग और धर्मात्मा पुरूषों का सत्संग नहीं प्राप्त होता हो ऐसे स्थान पर भी नहीं रहना चाहिये।

रहने का स्थान भी उपद्रव रहित क्यों होना चाहिये ? इस प्रश्न का उत्तम समाधान इस गुण के पठन-मनन से प्राप्त होगा।

मार्गानुसारी आत्मा का दसवाँ गुण है - उपद्रव ग्रस्त स्थान का त्याग।

मार्गानुरागी आत्मा का दसवाँ गुण है - उपद्रव ग्रस्त स्थान का त्याग।

चाहे जैसे स्थान पर नहीं रहना, उचित स्थान पर ही आवास बनाना। यद्यपि 'उचित आवास' नामक गुण में ही इस सम्बन्ध में विशेष विचार किया जा चुका है फिर भी 'आवास' और स्थान को अलग करके उपद्रवग्रस्त स्थान का त्याग करने का शास्त्रीय विधान उस विषयक महत्व का प्रतिपादन करता है।

निम्न उपद्रवग्रस्त स्थानों का त्याग करना चाहिये :-

1) जहाँ भूत-प्रेत आदि का वास हो उस स्थान पर नहीं रहना चाहिये।

2) शेर-भेडिया, अथवा साँप-बिच्छु आदि का भय हो उस स्थान का परित्याग करना चाहिये।

3) जहाँ चोर-डाकुओ आदि का विशेष भय रहता हो वह स्थान भी अयोग्य (अनुचित) कहलाता है।

4) जहाँ अपने अथवा पराये राजा की ओर से भय रहता हो उस स्थान का भी परित्याग करना चाहिये।

5) महामारी, मरकी तथा दुष्काल आदि का उपद्रव हो उस स्थान का भी परित्याग करना चाहिये।

6) जहाँ बार-बार उपद्रव तथा दंगे आदि होते हो वहाँ नहीं रहना चाहिये। ऐसे स्थान (देश) का परित्याग कर देना चाहिये।

जिस प्रकार वर्तमान काल में पंजाब जैसे देश में बार-बार एवं निरन्तर हत्या हो रही हैं दिन-दहाड़े हिन्दुओं को गोलियों से भून दिया जाता है, किसी के प्राणों एवं सम्पत्ति की सुरक्षा का प्रबन्ध नहीं है। ऐसे स्थान पर समझदार मनुष्य को कदापि नहीं रहना चाहिये।

वर्षों से वहाँ बसे हुए मनुष्यों के लिये यकायक स्थल बदलना कठिन प्रतीत होता हो तो भी उन्हें ऐसे देश का त्याग करने की ओर सतत लक्ष्य रखना चाहिये। ऐसे देश में व्यापार-व्यवस्था आदि की दृष्टि से ठीक जमावट हो गई हो तो कुछ मनुष्यों की वह देश छोड़ने की इच्छा नहीं होती, परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि दुष्ट मनुष्य कब आपकी दुकान अथवा पेढी को नष्ट कर देंगे उसका कोई भरोसा नहीं है और उस समय दूकान-पेढी तो आपके हाथ से जायेगी ही, परन्तु आपके अमूल्य प्राण भी जाने का समय आ सकता है। अत: ऐसे स्थानों से तो 'जीवित नर भद्रा पामे' यह सोचकर वहाँ से तुरन्त निकल जाना और अन्य शान्त एवं स्वस्थ प्रदेश में निवास करना हितकर माना जाता है।

7) जहाँ बार-बार दुष्काल (अतिवृष्टि तथा अनावृष्टि) पड़ते हो उन स्थानों का त्याग करना चाहिये।

8) जहाँ जुआरी मनुष्यों का अड्डा हो, मदिरा के गोदाम आदि हो उन स्थानों पर नहीं रहना चाहिये। इतना ही नहीं उस स्थान में होकर यथा संभव गुजरना भी नहीं चाहिये क्योंकि दुष्ट मनुष्यों का दूषित प्रभाव हमारे मन को और संतानों के मन को प्रभावित कर सकता है।

9) जहाँ सद्गुरुओं तथा स्वधर्मियों का संसर्ग प्राप्त होने की सम्भावना न हो ऐसे स्थान पर भी नहीं रहना चाहिये।

10) जिस स्थान पर धर्माराधना में और अर्थ एवं काम पुरूषार्थ की धर्म द्वारा नियंत्रित प्रवृत्ति में बाधा उत्पन्न हो, विघ्न उत्पन्न हो ऐसा स्थान अयोग्य एवं उपद्रव्यग्रस्त कहा जाता है। ऐसे स्थान का परित्याग करें।

उपर्युक्त कारणों वाले स्थानों का त्याग करना विवेकी मनुष्य का कर्त्तव्य है। ऊपर जो बिन्दु बताये गये हैं उनमें से अनेक बिन्दु मृत्सु अथवा धन-नाश न हो उस दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर बताये गये हैं, तो प्रश्न उठता है कि मृत्यु सेइतना भयभीत होने की क्या आवश्यकता है ? क्या मृत्यु से भयभीत होने की बात कायरता नहीं हैं ?

बात ठीक है। उपलक दृष्टि से सोचते पर लगता है कि मृत्यु से क्यों डरना ? उसके लिये सांप अथवा चोर आदि के भययुक्त स्थान से क्यों भागें ? परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर यह मिथ्या सिद्ध होगा। उपद्रवग्रस्त स्थान पर रहने में अथवा खड़ा रहने में साहस अथवा वीरता नहीं है, परन्तु नादानी है, नासमझी है, अविवेक है।

एक बात अच्छी तरह ध्यान में रखनी चाहिये कि हमें प्राप्त मानव-भव सामान्य नहीं है, अत्यन्त मूल्यवान् है। इसमें धर्माराधना के अत्यन्त उत्तम अवसरों का लाभ उठाना चाहिये और इस प्रकार हमें मुक्ति-पथ पर तीव्र वेग से अग्रसर होना है।

अत: हमारा एक भी कदम ऐसा नहीं होना चाहिये कि जो हमारी धर्म-साधना को हानि पहुँचाने वाला हो। प्राप्त मानव-भव एवं मानव-देह का मूल्य करोड़ों, अरबों रूपयों से भी अधिक है। अत: इसे किसी साँप अथवा बिच्छु के सामान्य डंक से समाप्त नहीं होने दिया जा सकता, इसे किसी चोर-डाकू के धन-लोभ के पाप से नष्ट नहीं होने दिया जा सकता, इसे किसी साम्प्रदायिक दंगे में एस.आर.पी. के सिपाही की गोली का अर्थहीन शिकार होने नहीं दिया जा सकता और इसे पंजाब के किसी आतंकवादी की छुरी से नष्ट नहीं होने दिया जा सकता।

जिस प्रकार मृत्यु से भयतीत नहीं होना वीरता है, उसी प्रकार से किसी भी तरह, किसी के भी हाथों, किसी भी कारण से निरर्थक मरना पड़े उस परिस्थिति में जानबुझकर स्वयं को डालना निरी मूर्खता है, निरी नादानी है।

हाँ, यदि धर्म-शासन की रक्षार्थ, किसी जिनालय अथवा जिन-शासन पर आई आपत्ति से उसकी रक्षार्थ मरना पड़े और मृत्यु का हंसते-हंसते स्वागत किया जाये तो वह अवश्यमेव बलिदान है। शूरवीरता है। परन्तु हमारी अज्ञानी भूल के कारण पूर्णत: तुच्छ कारणों के लिये मानव-भव अकारथ गंवाना कोई बुद्धिमानी नहीं हैं।

हीरों के पैकेट लेकर असावधानी से घूमते हुए चोर-डाकू की दृष्टि पड़ने पर युवावस्था में उन दुष्टों की गोली का शिकार होना पड़े तो क्या यह वीरता है ? कोई बताइये तो सही। जैन-शासन के सिद्धान्तों में कहीं भी तुरन्त मरजाने की बात नहीं है, आत्म-हत्या को किसी भी तरह श्रेष्ठ नहीं

मानी गई है और उपर्युक्त स्थानों पर जान-बूझकर रहना आत्म-घात को निमंत्रण देने तुल्य है। सुज्ञ पुरूषों को ऐसा कदापि नहीं करना चाहिये।

उपर्युक्त स्थानों पर रहने से जिस प्रकार मृत्यु अथवा धन नष्ट होने आदि का भय है। चोर-डाकू आदि वाले अथवा दंगे-तोड़फोड़ आदि वाले स्थानों पर रहनेसे हमारे जीवन पर भी चोरों जैसे कुसंस्कारों का प्रभाव पड़ता है, सन्तानों में भी कुसंस्कार उत्पन्न होते हैं। जहाँ दंगे-उपद्रव निरन्तर चलते हों वहां हमारी भी चित्त-शान्ति नहीं रहती और चित्त-शान्ति के बिना धर्म - क्रिया कैसे सूझ सकती है ? निरन्तर क्रोध आदि कषायों को भड़काता है। यह अत्यन्त भारी हानि है। इस प्रकार यदि विषय एवं कषायों से जीवन नष्ट हो जाये तो चित्त की शान्ति कैसे कायम रह सकती है ? धर्माराधना कैसे की जा सकती है ?जीवन में सुख और परलोक में सद्गति आदि कैसे प्राप्त हो सकती है ? फिर तो मोक्ष - सुख भी दूर होते रहें तो उसमें आश्चर्य ही क्या है ? इस प्रकार उपद्रव-ग्रस्त स्थान में रहने से अपार हानि होने की सम्भावना है।

जहाँ स्वधर्मियों एवं सद्गुरूओं का संग प्राप्त न हो उस स्थान पर भी कैसे रहा जा सकता है ? सत्संग ही तो जीवन में परिवर्तन लाने के लिये महानतम आधार है। जहाँ सज्जनों अथवा सद्गुरूओं का संग उपलब्ध नहीं हो उस स्थान पर निवास करने वालों के लिये धर्म के प्रति प्रेम अथवा धर्माचार ही प्राय: सम्भावना नहीं होती।

विदेशों में वर्षों से बसे हुए अनेक महानुभावों के सन्तान जिनके जन्म विदेशों में ही हुए हैं उन्हें साधु कौन होते हैं, क्या होते है यह भी पता नहीं है। उन्हें अण्डे-मांस आदि का भक्षण करने में कोई आपत्ति नहीं है। उनके प्रश्नों के उत्तर देने वाले कोई नहीं मिलते। परिणाम-स्वरूप शनै: शनै: वे अण्डे- माँस आदि के उपभोक्ता हो जाते हैं। यदि उनके माता-पिताओं का भय होता है तो वे गुप्त रीति से उन वस्तुओं के भक्षक बनते हैं और उनके सन्तान होने पर (तीसरी पीढी में) घर में ही सब लोग स्वतंत्रता पूर्वक मांसाहार आदि करने लग जायेंगे। ऐसे व्यक्तियों से धर्म के कौनसे अन्य संस्कारों की अपेक्षा की जा सकती है।

इस सब भक्ष्याभक्ष्य सेवन का मूल उपद्रवग्रस्त स्थान अथवा सद्गुरू आदि के संग से रहित स्थान में निवास करना ही है। इस कारण उन स्थानों का परित्याग करना अत्यन्त आवश्यक है। जहाँ हमारी चित्त-समाधि सुरक्षित रहती हो, धर्म की भावनाओं में वृद्धि होती हो, कषायों का निग्रह एवं शुभ आत्म-ध्यान आदि हो सकता हो उस स्थान पर अथव उस देश में बसने का आग्रह रखना हितकर है।

(ग्याहरवाँ गुण)

निन्ध प्रवृत्तियों का त्याग

निन्दनीय कार्य को त्याग दें....

अप्रवृत्तश्च गर्हिते।।

निन्ध प्रवृत्तियों का त्याग

जो प्रवृत्तियां निन्दनीय हैं, शिष्ट पुरूषों ने जिन कार्यों को, जिन क्रियाओं को निन्दनीय माना है उनका परित्याग कर देना चाहिये।

यदि प्राप्त उत्तम मानव-भव को, उत्तम जाति को एवं उत्तम कुल को हम विफल नहीं होने देना चाहते हों तो उस विफलता के कारण का परित्याग करना ही होगा और वह कारण है हमारी निन्दनीय प्रवृत्तियाँ।

अत्यन्त विलासपूर्ण जीवन निन्ध है। विलासी मनुष्य प्राय: व्याकुल रहते हैं। जीवन में सुख और शान्ति प्राप्त होना प्राय: उनके भाग्य में नहीं होता।

सात व्यसनों में प्रेम पूर्वक लिप्त होने वाले व्यक्ति विशिष्ट आन्तरिक आनन्द के भोक्ता नहीं होते। मदिरा, जुआ, शिकार (आखेट), मांसाहार, परस्त्रीगमन, वेश्यागमन एवं चोरी ये प्रत्येक पाप जीवन के समस्त सुख तथा आनन्द का सर्वनाश करने में समर्थ हैं।

निन्ध प्रवृत्तियों का परित्याग करने की प्रेरणा प्रदान करने वाले इस गुण का विवेचन पठनीय एवं मननीय है।

मार्गानुसारिता के गुणों में ग्याहरवाँ गुण है -

निन्द्य प्रवृतियों का परित्याग

निन्द्य अर्थात् निन्दनीय, निन्दनीय अर्थात् निन्दा की पात्र। लोगों में जो निन्दा की पात्र मानी जायें उन प्रवृत्तियों का परित्याग करना। पहले छठा गुण 'निन्दा का त्याग' बताया गया था। निन्दा प्राय: वचन सम्बन्धी अशुभ आचार है। अत: निन्दा का त्याग करने से वचन सम्बन्धी अशुभ आचार का त्याग होता है। जबकि वचन एवं देह से सम्बन्धित अशुभ आचार का त्याग 'निन्द्य प्रवृत्ति का त्याग' नामक इस ग्याहरवें गुण के सेवनसे होता है। अत: यह गुण भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

निन्द्य किसकी अपेक्षा से ?

प्रश्न यह होता है कि निन्दा का पात्र किसकी अपेक्षा से माना जाता है ? यों तो समाज में ऐसे धर्माचार भी हैं जिन्हें कुछ लोग निन्दनीय मानते हैं। जैसे कोई वैष्णव अथवा जैन धर्म का चुस्त अनुयायी व्यक्ति ललाट में बड़ा पीला तिलक करके जाता हो तो कुछ आधुनिक लोग उसकी हंसी उड़ाते हैं। तो क्या तिलक करना निन्द्य प्रवृत्ति मानी जाती है ? इस प्रकार से सिर पर पगड़ी पहनना अथवा धोती पहनना वर्तमान लोगों को हास्यस्पद प्रतीत होता है। (इस कारण ही सिर पर पगड़ी बाँधना अथवा धोती पहनना प्राय: बन्द हो गया है।) तो क्या उसे निन्द्य प्रवृत्ति मानें ?

इसके विपरीत आज कुछ आचार सर्वमान्य से हो गये हैं। तो क्या वे बुरे हों तो भी उन्हें अनिन्द्य मानें ? जैसे सिनेमा देखना, ताश खेलना, ताश पर जुआ खेलना, आय कर आदि की चोरी करना, परिस्त्रियों के साथ अमुक प्रकार के क्लबों में नृत्य करना आदि अत्यन्त व्यापक हो गाये है, तो क्या उन्हें निन्द्य नहीं मानें ?

शिष्ट व्यक्तियों को अमान्य वह निन्द्य -

जो मनुष्य समाज में शिष्ट माने जाते हैं उनके आचरण के अनुसार व्यवहार करना अनिन्द्य और उनसे विपरीत व्यवहार करना निन्द्य है। शिष्ट मनुष्य अर्थात् सज्जन, सदाचारी, धर्म की नीति एवं नियमों के ज्ञाता और यथा संभव के आराधक पुरुष कहें वह मानना, उनके आचारों को अनिन्द्य मानना ही बुद्धिमान मनुष्यों का कर्त्तव्य है। शास्त्र भी वाद-विवाद से निष्कर्ष नहीं निकलने पर 'शिष्ट कहें वह प्रणाम' कहकर शिष्ट जनों के वचनों को अत्यन्त प्रामाणिक बताते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि अपेक्षा से शास्त्रों की अपेक्षा भी अमुक-अमुक विषयों केअनुभवी व्यक्तियों, शिष्ट व्यक्तियों का आचरण अधिक सम्मानीय माना गया है। इस कारण ही कहा गया है न कि ''महाजनो येन गत: स पन्था:'' जिस मार्ग से महाजन (शिष्ट जन) गये हों, वही मार्ग कहलाता है।

शिष्ट व्यक्ति समस्त कालों में, समस्त समाजों में होते ही हैं। केवल हमें अपनी विवेक दृष्टि से उन्हें खोज निकालने की आवश्यकता है। यदि हमारी वृत्ति निन्द्य प्रवृत्तियों को जीवन में से निकालने में प्रबल होगी तो हमें सुयोग्य व्यक्ति (शिष्ट जन) मिल ही जायेंगे। अत: शिष्ट व्यक्तियों को

कहाँ ढूँढा जाये यह प्रश्न उठाने की बात ही नहीं हैं। ऐसे शिष्ट-जनों के द्वारा जिन आचारों को, जिन पापों को त्याज्य बताया गया है, उन का जीवन में त्याग करना हमारा महान् कर्त्तव्य है।

जो व्यक्ति उत्तम मनुष्यों के रूप में जीवन यापन करना चाहते हों उन्हें शिष्ट-जनों को *अमान्य निन्द्य प्रवृत्तियों का परित्याग अवश्य कर देना चाहिये।*

उत्तम भव, जाति एवं कुल निष्फल क्यों ?

कैसा उत्तम प्राप्त हुआ है हमें मानव-भव।

कैसी महान् प्राप्त हुई है हमें माता सम्बन्धी जाति।

कैसा उत्तम प्राप्त हुआ है हमें पिता सम्बन्धभ कुल।

ये सब उत्तम प्राप्त होने पर भी यदि हम इन्हें सफल नहीं कर सकें तो उसका अत्यन्त महत्वपूर्ण कारण यही है कि शिष्ट मनुष्यों द्वारा अमान्य किये गये अयोग्य (निन्द्य) आचारों को हमने जीवन में स्थान दिया। और इस कारण ही आर्य देश, आर्य भव, आर्य जाति एवं आर्य कुल सभी हमारे लिये निरर्थक सिद्ध हुए। जो व्यक्ति अपने व्यवहार में, अपने समाज में, अपनी जाति में उच्च प्रतिष्ठित जीवन व्यतीत करना चाहते हों उन्हें निन्दनीय प्रवृत्तियों का परित्याग करना ही पड़ेगा।

जिस व्यक्ति के जीवन में अत्यन्त विलासिता, भोगाभिलाषा, सामाजिक-धार्मिक नीतियों के नियमों के नियंत्रण से मुक्त स्वच्छन्द विहारिता आदि निन्द्य प्रवृत्तियां होंगी उसकी समाज में तनिक भी प्रतिष्ठा नहीं रहती। उसका यह भव नष्ट होता है - धन से, प्रतिष्ठा से, आरोग्य से और पारिवारिक सुख-शान्ति से और उसका पर भव भी नष्ट हो जाता है - सद्गतियों से।

जिस व्यक्ति को इस लोक में सुख, शान्ति अथवा सम्मान प्राप्त नहीं हो और परलोक में उत्तम गति (मानव गति अथवा देव गति) प्राप्त नहीं हो उन व्यक्तियों के मानव-जीवन का मूल्य कितना ? उनके जीवन का मूल्य है मिट्टी जितना। अनियंत्रित भोग-विलासमय जीवन कुछ समय के लिये ही सुख (वह भी सच्चा सुख नहीं, भ्रान्त सुख) प्रदान करता है। अत्यन्त दीर्घ काल तक उसके कटु परिणामों का भोग होना ही पड़ता है।

अत्यन्त विलासी मनुष्य सुखी नहीं है -

प्राय: अत्यन्त विलासी एवं स्वछन्दी मनुष्यों के मन तृप्त नहीं होते। वे वास्तव में सुखी नहीं होते। उन्हें पारिवारिक जीवन में शान्ति का अनुभव नहीं होता। अथवा तो उनकी पत्नी अत्यन्त झगड़ालू-कर्कशा होती है, अथवा उनकी सन्तान कुमार्ग-गामी अथवा उद्दंड एवं उच्छृंखल होती है। अथवा तो ऐसे मनुष्य सरकारी कठिनाईयों में निरन्तर उलझे हुए रहकर मानसिक रूप से अत्यन्त व्याकुल होते हैं। इस प्रकार प्राय: उनके जीवन में सुख-शान्ति नहीं होती।

माता और पिता के जीवन में दुराचार आदि के महान् पाप हो तो उनके सन्तानों में भी, अनिच्छा से भी उन दुर्गुणों का प्रति बिम्ब पड़ता ही है और उस समय माता-पिता के लिये मस्तक -

शूल तुल्य चिन्ताएं व्याप्त हो जाती हैं। यदि आपकी पुत्री युवावस्था में विवाह से पूर्व ही व्यभिचार आदि के कुमार्ग पर चली गई हो तो क्या वह आपके ही जीवन की किसी गम्भीर भूल का परिणाम नहीं हो सकती ? क्या वह आत्म-निरीक्षण करने की बात नहीं है ?

यदि आपकी दृष्टि परस्त्रियों के प्रति विकारी हो जाती होगी तो क्या उसका प्रभाव आपकी सन्तानों पर नहीं पड़ेगा ? यदि आपके ही जीवन में चोरी, जुआ, मदिरा-पान आदि पाप प्रविष्ट हो चुके होंगे तो उनकी पुनरावृत्ति आपके पुत्र-पुत्रियों में नहीं ही होंगे यह कैसे कहा जा सकता है ? और फिर भी यदि वैसा कुछ न हो तो आप आश्चर्य मानना और मानना कि आप के किन्हीं पूर्वजों के पुण्य ने ही आपकी सन्तानों को बचा लिया है। अन्यथा आपका दुश्चरित्र तो उन्हें उन पापों की ओर निश्चय ही खींच ले जाता।

उल्टे गणित के भ्रम-जाल का त्याग करो -

मूल बात तो यह है कि वर्तमान विश्व में भोगवाद इतना भयंकर रूप से फैला है कि मनुष्य सुख के साधनों की ओर अंधा होकर दौड़ा है और वर्तमान विश्व का गणित भी सर्वथा उल्टा ही है न ? ज्यों - ज्यों जिसके पास भोग-सुखों की साधन-सामग्री अधिक होती है त्यों -त्यों वह व्यक्ति बड़ा और जिसके पास भौतिक सुख-सामग्री अल्प होती है त्यों -त्यों वह व्यक्ति छोटा है, तुच्छ है। ऐसे उल्टे गणित के कारण वर्तमान मनुष्य अधिकाधिक भोग-साधनों का संग्रह करने की रोकेट-स्पर्द्धा में सबके साथ सम्मिलित हो गया और इस कारण उसे अकरणीय कार्य, निन्द्य प्रवृत्तियां करनी पड़ी।

यदि इस उल्टे गणित के भ्रम-जाल में से मुक्त होकर आप तनिक आध्यात्मिक दृष्टि से सोचेंगे तो आपको अपनी मूर्खता समझ में आये बिना नहीं रहेगी। कितने वर्षों का है यह जीवन। पचास, साठ, सित्तर वर्ष, अस्सी वर्ष। इसमें भी कितने वर्षों का बहुमूल्य समय तो खाने में, पीने में, नींद करने आदि में व्यर्थ चला जाता है ? तो कितने वर्षों के भोग-सुखों के लिये ऐसे घोर निन्द्य पापों का आचरण करना है ? और अन्त में इस सबका परिणाम ?

निन्दनीय प्रवृत्तियों के आचरण से इस भव में लोगों में बदनामी, तुच्छता की प्राप्ति, सज्जन के रूप में हमारी प्रतिष्ठा धुलकर साफ, जीवन का पाप-पथ पर प्रयाण और अन्त में नरक आदि दुर्गतियों के द्वारा खटखटाना। अनेक प्रकार के घोर अनर्थों के निमंत्रक एवं जीवन में अपयश - अपकीर्ति प्रदान करने वाले सन्तानों के जीवन में भी विपरीत आदर्शों को जाने-अनजाने खड़े करने वाले निन्द्य पापों को जीवन में से निष्कासित करें।

इनसे उत्पन्न होने वाले अत्यन्त कटु परिणमों के सम्बन्ध में विचार किया जाये तो प्राय: उन पापों का परित्याग करना अधिक कठिन तो नहीं ही प्रतीत होगा। किसी भी बात के गहरे परिणामों का दीर्घ-दृष्टि से विचार किया जाये तो उसका सार-संसार हमें अवश्य समझ में आ सकता है और एक *बार वस्तु के सार-असार का भान होने पर असार* का परित्याग करने और सार को ग्रहण करने का कार्य प्राय: सरल हो जाता है।

सात व्यसन

जिन्हें देश के समस्त धर्मों ने, समस्त शास्त्रों ने एकमत होकर व्यसन माना हैं और जिनसे जीवन का भयकंर विनिपात होता है, जिनसे जीवन की शान्ति-मृत्यु समय की समय की समाधी, परलोक में सद्गति और परम्परा से प्राप्त होने वाली मुक्ति ये समस्त असंभव हो जाते हैं वे सात महा व्यसन निम्नलिखित है :-

1) मदिरा, 2) माँस, 3) शिकार, 4) जुआ, 5) परस्त्रीगमन, 6) वेश्यागमन और 8) चोरी।

1. मदिरा :- मानव-जीवन की समस्त बर्बादी की सर्जक मदिरा है। एक बार जो इसकी लत में पड़ गया वह पड़ा ही समझें। उसका विनिपात कहाँ जाकर रूकेगा उसका कोई भरोसा नहीं है। मदिरा - पान से अन्य समस्त व्यसन जीवन में प्रविष्ट हो जाने की पूर्ण संभावना है क्योंकि इसके पान से विवेक-बुद्धि नष्ट हो जाती है और अविवेकी व्यक्ति समस्त पाप कर सकता है।

शराबी व्यक्ति को मदिरा-पान करने के लिए और दुराचार करने के लिये पैसों की सख्त आवश्यकता होती है जिससे वह चोरी भी करता है और जुआ भभ खेलता है। और मदिरा-मांस आदि के भक्षक मन में हिंसा होनने से उसमें शिकार का पाप भी प्रवष्टि हुए बिना नहीं रहता। इस प्रकार मदिरा का व्यवसन अत्यन्त भयंकर है। उसका परित्याग परलोक में सद्गति प्राप्त करने के लिये तो ठीक, परन्तु इस लोक से सुख-शांति और प्रसन्नता के लिये भी अत्यन्त आवश्यक है।

वालकेश्वर की एक महिला की व्यथा-

वालकेश्वर की उस महिला की कथा स्मरण हो आई है जिसकी व्यथा सुनकर एक मुनिवर की आँखों में आँसू आ गय थे। उस महिला ने रोते - रोते कहा, ''महाराज साहेब। क्या करूँ ? घर में अपार धन है, तीन गाडियाँ हैं, नौकर-चाकर है, सन्तान भी समझदार है, परन्तु उनमें (पति में) एक भारी दूषण है - मदिरा-पान का, जिसने हमारे संसार को आग लगा दी है। वे रात्रि में विलम्ब से आते हैं मदिरा के नशे में चूर होकर, उन्हें तनिक भी भान नहीं होता, वे बुरी-बुरी गालियां देते हैं। बालक छोटे हैं, कभी-कभी शोर-गुल से जाग भी जाते हैं। उनके समक्ष ही वे मुझे पीटते हैं, बच्चों को भी अत्यन्त पीटते हैं। इस सब से घर का वातावरण कुलषित होता है और बालकों पर विपरीत संस्कार पड़ते हैं। अब महाराज साहेब। मैं क्या करूं ? कुछ समझ में नहीं आता। घर में लाखों रूपये होने पर भी इस मदिरा के दैत्य ने हमारा जीवन नष्ट कर दिया है।''

मदिरा से पत्नी की मृत्यु -

ऐसे ही एक अन्य व्यथापूर्ण कथा है एक जैन महिला की। उसका फ्लैट भी वालकेश्वर के वैभवपूर्ण क्षेत्र में था। उसका पति मदिरा का पूर्ण व्यसनी था। वह महिला बार-बार पति को समझती - मदिरा का त्याग कर दीजिये, अन्यथा इससे अपने परिवार का सर्वनाश हो जायेगा।'' परन्तु वह भाई नहीं मानता था और उल्टा पत्नी के साथ अत्यन्त मार-पीट करता था। एक बार बड़ी चतुर्दशी

का दिन था। पत्नी प्रतिक्रमण करने के लिये जा रही थी। इतने में वह भाई मदिरा के नशे में चूर होकर आया। पत्नी ने ही द्वार खोला। पति की दुर्दशा देखकर उससे रहा नहीं गया। वह बोली "आज बड़ी चतुर्दशी के दिन का भी भान नहीं रहा। आज तो पिये बिना आना था।" पति को क्रोध आ गया। उसने पत्नी की भुजा पकड़ी और उसे खींच कर वह शयनागार में ले गया भीतर से ताला लगा दिया। कहने लगा, ले नित्य मुझे उपदेश देती है, मदिरा - पान नहीं करने का आज मैं तुझे ही मदिरा पिलाता हूँ।" पत्नी ने कहा "यह क्या कर रहे हो ? आज मेरे चतुर्दशी का चौविहार उपवास है और आपको यह क्या सुझा है ?" पति बोला - "बैठ जा चुपचाप। आज तुझे नहीं छोड़ूंगा।" कहते हुए पति ने बल पूर्वक मदिरा की बातले पत्नी के मुँह से लगा दी और उसे मदिरा पीला दी।

अपने उपवास का भंग और वह भी चतुर्दशी के दिन मदिरा पीकर। इस आघात को पत्नी सह नहीं सकती। उसने रात्रि में ही आत्म-हत्या कर ली और मृत्यु का आलिङ्गन किया। मदिरा का पाप कितना भयानक है। इसका इससे अधिक दु:खद दृष्टांत अन्य क्या हो सकता है ? यद्यपि उस महिला द्वारा उठाया गया आत्म-हत्या का कदम सचमुच अनुचित था। मरने से कोई किसी आपत्ति का निराकरण थोड़ी ही होता है ? परन्तु उस आद्यात को सहन नहीं कर सकने के कारण ही उसने यह कदम उठाया। अन्यथा, मानव-भव को इस प्रकार अकाल नष्ट करने को शास्त्रकार कदापि उचित नहीं मानते।

बात है मदिरा के व्यसन की भयंकरता की। जिसे अपना जीवन समृद्ध करना हो, सद्गुणों की सुगन्ध से युक्त बनाना हो और शान्ति तथा स्वस्थता से परिपूर्ण करना हो, उसे मदिरा जैसे दैत्य को जीवन में से निष्कासित करना ही चाहिये।

2. मांसाहार :- मांसाहार भी अत्यन्त भयानक पाप है। पंचेन्द्रिय जीवों की (गाय, भैंस, बैल, बकरी, भेड़, मुर्गा आदि प्रणियों की) हत्या करने से ही मांसाहार होता है। अम: ऐसे जीवों का संहारक तथा उनके संहार से उत्पन्न मांस का आहार करने वाला व्यक्ति नरकगामी होता है। मांसाहारी व्यक्ति में क्रूरता, हिंसा आदि दुर्गुण उत्पन्न होते हैं। मांसाहार व्यक्ति तामसी-क्रोधी प्रकृति का होता है। मांसाहार से स्वास्थ्य आदि की भी हानि होती है। मांसाहार करना अर्थात् जीवों का संहार करके उनके लिये कब्रिस्तान रूपी अपना पेट बनाना।

'मांसाहार बलवान होता है और माँस में विटामिन अधिक होते हैं।' इस मान्यता को वर्तमान डॉक्टरों ने असत्य सिद्ध कर दिया है। इस प्रकार अनेक दृष्टि से मांसाहार वर्जित है।

3. शिकार :- शिकार भी अत्यन्त हिंसा स्वरूप होने से त्याज्य है। अन्य जीवों की हत्या करने में वीरता नहीं है। मानव होकर अन्य प्राणियों की रक्षा करना हमारा कर्त्तव्य है। आज शिकार का पाप विशेष देखने में नही आता। अत: उसके बदले जिसमें पशु-पक्षी आदि की क्रूर हिंसा होती हो, उस प्रकार के जीव-हिंसा-जनक अथवा जीव-हिंसा को प्रोत्साहन देने वालें धंधो आदि को 'शिकार' में सम्मिलित कर सकते हैं।

शिकार (जीव-हिंसा) और मांसाहार भाई-भाई हैं। जो व्यक्ति मांसाहार का शौकीन होगा उसे जीव-हिंसा करने में हिचहिचाहट नहीं होगी। अन्य व्यक्ति भी जो जीव-हिंसा के पाप करते होंगे उन्हें वे बुरे नहीं मानेंगे। इसलिये शिकार एवं मांसाहार दोनों त्याज्य हैं। प्राचीनकाल में जैन आगेवानों और जैन संघ की गांवों में अत्यन्त सत्ता रहती थी। जैन-नगर सेठों और संघ की मर्यादा भंग करके अजैन जातियों के निम्न वर्ग के मनुष्य भी खुले आम हिंसा आदि पापों को कर नहीं सकते थे। उन्हें जैन समाज (संघ) का भय लगता था। ''यदि गांव का जैन समाज क्रोधित हो गया तो- इस प्रकार का उन्हें भय रहता।

जैन संघ की सत्ता :- सौराष्ट्र के एक छोटे से गाँव में एक वावरी ने खुल आम एक तीतर का शिकार किया और जैन संघ की सत्ता को मानो चुनौती देने के लिये ही उसने उस तीतर को मार्ग के चौक में रस्सी बाँधकर टाँग दिया। गाँव का जैन संघ एकत्रित हुआ और विचार किया ''यदि इस वाघरी को उसके पाप का दण्ड नहीं दिया गया तो एक बार आन टूटने पर अनेक लोग हिंसा आदि पाप स्वच्छन्दता से करने लगेंगे।

जैन संघ ने निर्णय किया कि ''जब तक वाघरी क्षमा याचना नही करें तब तक समस्त जैन दूकान बन्द रखें। व्यापारियों की दूकानें बंद हो गई। वाघरी आदि निर्धन जाति के लोग नित्य अनाज, किराना एवं नमक-मिर्च खरीदकर जीवन निर्वाह करते थे। अत: व्यापारियों की दूकानें बंद होने से सबको अत्यन्त कष्ट होने लगा।

फिर भी उस वाघरी ने जैन संघ से क्षमा-याचना नहीं की। वाघरी जाति ने भी उसका साथ देना प्रारम्भ किया। उन्होंने सोचा कि बनिये कब तक दूकानें बंद रखेंगे ? अन्त में तो तंग आकर दूकानें खोलेंगे ही। परन्तु इस ओर जैन संघ अड़िंग रहा। दुकानें नहीं खोली तो नहीं ही खोली। ऐसा करते-करते उन्नीस दिन व्यतीत हो गये।

अब वाघरी तंग हो गये, ''कब तक ऐसे चलायेंगे ?'' इनका भी बाल-बच्चों का परिवार था। अत: वह वाघरी अन्त में क्षमा याना करने के लिये तत्पर हुआ अैर उसने क्षमा-याचना करते हुए कहा ''भविष्य में इस प्रकार हिंसा नहीं करूंगा।''

तत्पश्चात् जैन संघ ने दूकानें खोली। इसके कारण सम्पूर्ण गांव में जैन संघ की ऐसी धाक जम गई कि कोई भी व्यक्ति कभी इस प्रकार प्राणियों की हत्या करने का साहस नहीं कर सकता था।जो बड़े माने-जाने वालों में हिंसा त्याग कर सकते हैं। जो बड़े (महाजन) ही हिंसा आदि करतें हो तो निम्न वर्ग के मनुष्यों से हिंसा त्याग करने की अपेक्षा ही कैसे कर सकतें हैं ?

4. जुआ :- जूए का व्यसन भी इस लोक और परलोक दोनों के लिये हानिकारक हैं। जूआ प्रारम्भ में अत्यन्त मधुर लगता है, परन्तु इसका परिणाम भयंकर है, दारूण है। जीवन का सर्वनाश करने वाले जूए के फन्दे में कदापि नहीं पड़ना चाहिये।

एक प्रसंग प्रस्तुत हैं :-

एक युवक जुएं के एक अड्डे के समीप होकर नित्य निकलता। अनेक बार जूआ खेलने की उसकी इच्छा होती, परन्तु कुलीनता एवं लज्जा के कारण जुआ खेलता नहीं था। एक दिन अन्य जूआरियों ने उसे खेलने के लिये अत्यन्त आग्रह किया। उसका मन लालायित हो उठा। उसने सोचा ''एक दिन खेलने में क्या हो जायेगा।' और लालायित होकर वह खेलने बैठ गया। उन मिथ्या मित्रों ने उसके पीने के लिये मदिरा मंगवाई, परन्तु उसने वह नहीं पी और जूआ खेलना प्रारम्भ किया। केवल पन्द्रह मिनट में ही उसने दो हजार रूपय अर्जित कर लिये। उन मित्रों ने जूआ खेलना बंद किया। दो हजार रूपये लेकर वह अड्डे से बाहर निकला। वह अत्यन्त प्रसन्न था। वह मन ही मन सोच रहा था ''इतने सारे रूपये। पूरा महिना नौकरी करने पर भी नहीं मिल सकते उतने रूपये मुझे केवल पन्द्रह मिनट में ही प्राप्त हो गये।''

उसने पुनः सोचा ''अब यहाँ नित्य आकर जूआ खेलूँगा।'' वास्तव में यह उसकी सच्ची जीत नहीं थी, परन्तु उन बदमाश मित्रों ने ज्ञान-बुझकर उसे जिताया था क्योंकि वे कुमित्र उसमें जुआ खेलने की लत डालना चाहते थे, ताकि वह नित्य खेलने लग जाये। उस भोले युवक को यह सब पता नहीं थज्ञ। दूसरे दिने से वह युवक नित्य जूए के अड्डे पर आने लगा। प्रारंभ में तो चार-पाँच दिन तक वह कमाता गया, परन्तु तत्पश्चात् धीरे-धीरे उसकी पराजय प्रारम्भ हो गई। अब वह पाँच-सात दिन निरन्तर हारता तो एक दिन कुछ कमा लेता था। परन्तु वह यह एक दिन की जीत उसे पांच-सात दिन अड्डे पर आने के लिए प्रेरित करती। ऐसा करते करते युवक को जूआ खेलने की लत लग गई। परिणाम भयंकर था। जूए के पाप से उस युवक का जीवन नष्ट हो गया। देर रात्रि तक जागृत रहना, जूआ खेलना, अतः मदिरा की बोतल भी प्रारम्भ हो गई। मदिरा-पान और धुत-क्रीडा के लिये रूपये की तो आवश्यकता होती ही है। नित्य रूपये कहाँ से लाये ? अन्त में वह चोरी करने लगा।

मदिरा, जूआ, चोरी और अन्त में परस्त्रीगमन आदि पाप भी उसके जीवन में प्रविष्ट हो गय। उत्तम जीवन का स्वामी युवक बर्बादी की गहरी खाई में जा गिरा। ये समस्त पाप प्रारम्भ में तो प्रिय, मधुर एवं सुमधुर लगते हैं, परन्तु इनका परिणाम अत्यन्त भयानक होता है। अतः यदि आपका इनसे बचना हो तो प्रथम ही इनका आचरण करने से दूर हटना। जो व्यक्ति पतन के इस प्रारम्भिक पल को चूक गया वह तो मानो जी गया और जो इस प्रथम पल में ही बर्बाद हो गया, ललचा गया वह अपना भाव-प्राण खो ही बैठा समझो।

5. परस्त्रीगमन और 6. वेश्यागमन :-

ये दोनों पाप अत्यन्त घोर स्तर के हैं। युवावस्था की मौज में मतवाले बने युवक, वासना की बाढ के प्रवाह को नहीं रोक सकने वाले व्यक्ति इन दोनों पापों में फंस जाते हैं। यदि जीवन में कुलीनता और लज्जा जैसे तत्त्व न हो तो प्रायः इन दोनों पापों के प्रलोभनों से बचना अत्यन्त दुष्कर है। कभी-कभी महान् धर्मात्मा का प्रमाण पत्र लेकर घूमने वाले और महान् साधु-पुरूषों के भक्तों के

रूप में आदर पाने वाले व्यक्ति भी परस्त्रीगमन एवं वेश्या-गमन सम्बन्धी पापों में फंसते दृष्टिगोचर होते हैं तब इन पापों की भयानकता ज्ञात हुए बिना नहीं रहती।

प्राय: धनी लोगों के जीवन में ही इन दोनों पापों की संभावना अधिक रहती है क्योंकि धन से ही, धन के लोभ से ही पर स्त्रियां एवं वेश्या अपनी देह का, अपने शील का विक्रय करने के लिये तैयार होती हैं। इस दृष्टि से यह कहना चाहिये कि यदि धन प्राप्त होकर अन्त में जीवन की इन पापों के द्वारा बर्बादी ही होनी हो तो आप भगवान से प्रार्थना करें कि ''इससे तो हमें निर्धन का जीवन ही प्रदान करना। जिनके कारण इस लोक में मेरी निन्दा हो और मेरा परलोक भी भयानक हो जाये, ऐसे पाप मैं तो कम से कम मेरा जीवन नहीं पड़े।''

7. चोरी :-

चोरी का पाप भी सातवां व्यसन माना गया है। यह कटेव अत्यन्त भयंकर है। जिनकी एक बार चोरी करने की आदत पड़ जाती है, वह वृद्धावस्था तक भी छूटती नहीं है। आपको यह दृष्टांत स्मरण होगा। आसपास के पड़ोसियों के घर से छोटी-छोटी वस्तुओं की चोरी करने की टेव वाले उस बालक को उसकी माता ने इस कटुव से रोका नहीं, बल्कि उसकी उस प्रवृत्ति को उल्टा प्रोत्साहन दिया। परिणाम यह हुआ कि बड़ा होने पर वह बालक एक कुख्यात चोर हो गया। लाखों रूपयों की चोरी के अपराध में वह पकड़ा गया। अन्त में उसे फांसी का दण्ड सुनाया गया। फांसी पर चढाने से पूर्व उसे पूछा गया ''तुम्हारी अन्तिम इच्छा क्या है ?'' उसने कहा '' मैं एक बार अपनी माता को मिलना चाहता हूँ।'' उसकी माता को वहाँ बुलवाया गया। माता-पुत्र के अन्तिम मिलने के समय उसने माता का नाक काट खाया। माँ चीत्कार करती हुई गिर पड़ी।

न्यायधीश ने उसका पूछा ''अपनी माता का नाक काट खाने का यह दुष्कृत तुने क्यों किया ?'' उस चोर ने उत्तर दिया ''यह मेरी माता ही मेरी मृत्यु का कारण है। बाल्यकाल में मेरी चोरी करने की आदत को रोकने के बदले इसने प्रोत्साहन दिया, जिसके कारण मैं यहां चोर बना और आज फाँसी पर चढ रहा हूँ। यदि इस मेरी माँ ने बचपन में मेरी वह कुटेव सुधारी होती तो आज इस प्रकार मेरी करूण मृत्यु नहीं होती।''

कितनी सत्य बात हैं यह ? बालकों के बचपन के कुसंस्कारों को सुधारने का यदि माता-पिता के द्वारा प्रयत्न नहीं किया जाये तो उसका परिणाम कितना भयंकर हो सकता है ? चोरी छोटी हो अथवा बड़ी, आखिर वह चोरी ही है और इस कारण वह त्याज्य है। छोटी भी चोरी करने के कुसंस्कार तो सचमुच खतरनाक ही हैं। अदत्त अर्थात् उसके स्वामी द्वारा नहीं दी गई वस्तु को ग्रहण करना 'चोरी' है। इस प्रकार की चोरी का जीवन में से सर्वथा त्याग करना चाहिये।

व्यापार, धंधे में भी आज सरकारी कुत्सित रीति-नीतियों के कारण मनुष्य को कर-चोरी आदि का पाप करना पड़ता है। वह भी है तो चोरी ही और उसका भी त्याग करना चाहिये। फिर भी जीवन में से उस कर-चोरी का पाप नहीं छूटे तो भी उसके अतिरिक्त अन्य प्रकार की चोरी के

परित्याग की प्रतिज्ञा अवश्य कर लेनी चाहिये। उस प्रकार की चोरी के परित्याग की प्रतिज्ञा अवश्य कर लेनी चाहिये। उस प्रकार की चोरी यदि आप नहीं करते हैं तो उसकी प्रतिज्ञा लेने से उसके त्याग का महान् लाभ प्राप्त होता है। ये सात व्यसन लोगों में निन्दनीय कार्य माने जाते हैं। इनका परित्याग अवश्य करना चाहिये।

वर्तमानकाल में महापाप :-

इनके उपरान्त वर्तमान समय की दृष्टि से अन्य भी अनेक प्रकार के निन्द्य-कार्य हैं। गर्भपात करना, तलाक लेना, सिनेमा तथा विडिया आदि देखना, क्लबों में जाकर अनार्यों की तरह परस्त्रियों के साथ नृत्य करना, उपकारी गुरूजनों की अवहेलना, तिरस्कार करना, विश्वासघात करना तथा अनीति करना - ये समस्त वर्तमान काल के निन्दनीय कार्य हैं। इन समस्त पापों का त्याग करना चाहिये। जिन्होंने भारतीय संस्कृति के पालन से दीप्त जीवन में भारी सुरंग लगाई है, प्रजा को चरित्रहीन एवं नपुंसक बना दी है ऐसे पाश्चात्य संस्कृति के अनुकरण स्वरूप इन महा पापों से जीवन को बचाना ही चाहिये।

वर्तमान जीवन में सुख प्राप्त करने के लिये जिन - जिन ने इन नूतन आधुनिक पापों का आश्रय लिया है उन्होंने अपनी आत्मा का तो घोर अहित किया ही है, साथ ही साथ भारतीय संस्कृति की भी धज्जियाँ उड़ाने में सहयोग प्रदान करके अनेक जीवों को उल्टी शिक्षा देकर जगत का भी घोर अहित किया है।

मौज-शौक ही रक्षार्थ गर्भपात: -

एक दम्पति की बात मुझे याद है जिसने विवाह के पश्चात् थोड़े ही समय में अपनी पत्नी का गर्भपात कराया था। दूसरी बार गर्भ ठहरने पर दूसरी बार भी गर्भपात कराया गया। एक महात्मा के पास अपने पाप का प्रायश्चित करते समय उस महात्मा ने युवक को पूछा ''दो बार गर्भपात कराने का कारण क्या?'' युवक ने उत्तर दिया ''उस समय हमारा ताजा ही विवाह हुआ था। प्रारम्भ में दो-चार वर्ष तो बाहर घूमना-फिरना, मौज-शौक करना होतो बच्चे अन्तराय भूत बनते हैं। कौन इस झंझट में पड़े ? अत: हमने गर्भपात करा लिया था।''

हाय ? कैसी करूणता। जिस मिट्टी के कण-कण में जीवों को बचाने की, दया की सद्भावनाऐं विद्यमान हैं, उस धरती का एक युवक अपने मौज-शौक के लिये, वासना की तृप्ति के लिये अपनी पत्नी के उदर में स्थित भ्रूण की हत्या कराता है? यह एक व्यक्ति की घटना नहीं है। ऐसे तो *लाखों युवक-युवतियाँ इस भारत की धरती पर आज उभर आई हैं।* इसे आधुनिक भारत का दुर्भाग्य माने अथवा अन्यु कुछ ? इतना तो ठीक ही है कि उस युवक की तत्पश्चात् भी सद्गुरू का संयोग होने पर अपने उस पाप का प्रायश्चित करने की इच्छा हुई। इस दृष्टि से तो वह युवक शत-शत अभिनन्दन का पात्र है।

जीवन को अनेक प्रकार की दुष्टताओं से परिपूर्ण करने वाले इन व्यसनों एवं पापों का अवश्य ही परित्याग करना चाहिये। निन्द्य प्रवृत्तियों का आचरण करने वाला व्यक्ति चाहे जितना धनवान हो, भौतिक सुख-साधनों का स्वामी हो, परन्तु सज्जनों की दृष्टि में वह पूर्णत: भिखारी है और अध्यात्म की दृष्टि से वह बिचारा रंक है। ऐसे मनुष्यों को इस लोक में भी सतत भय होता है और उनका परलोक तो भयावह होता ही है। ऐसे मनुष्यों के मन निष्ठूर, क्रूर तथा निर्दय होते हैं और इस कारण सज्जनों, शिष्ट-जनों के समाज में उनकी विशेष प्रतिष्ठा भी नहीं रहती। इस प्रकार अनेक दृष्टिकोणों से सोचने पर निन्द्य प्रवृत्तियों का जीवन में से अवश्य त्याग करना चाहिये।

(बारहवाँ गुण)

उचित व्यय

'ते ते पाँव पसारिये, जेती लंबी सौर'

व्ययमायोचितं कुर्वन्

(उचित व्यय)

जीवन यापन के लिये धन आवश्यक है। धन व्यय किये बिना जीवन यापन नहीं हो सकता, परन्तु सदा यह विचार करना आवश्यक होता है कि उक्त व्यय सद्व्यय है, अथवा व्यय है अथवा अपव्यय है।

आत्म-कल्याणकारी धन-व्यय सद्व्यय है।

जीवन निर्वाह के लिये अनिवार्य धन-व्यय 'व्यय' है और ...

मौज शौक एवं वैभव विलास के लिये व्यय किया जाने वाला धन व्यय 'अपव्यय' है।

गृहस्थ को कितना व्यय करना चाहिये ? इसका सुन्दर माग-दर्शन हमें इस गुण के विवेचन में जानने को मिलता है। 'धन साध्य नहीं', साधन है' यह बात यदि हृदयस्थ हो जाये तो जीवन में ईमानदार होना कठिन अवश्य प्रतीत होगा। परन्तु असंभव तो नहीं ही है।

'ऋण लेकर भी घी पियो' यह मान्यता केवल नास्तिक की ही नहीं, दिवालिये की भी होती है। सच्चे सज्जन के लिये इस प्रकार का विचार भी अस्पृश्य होता है।

अत: मार्गानुसारी आत्मा का बारहवाँ गुण है उचित व्यय।

मार्गानुसारी के गुणों में बारहवाँ गुण बताया है -

उचित व्यय :-

मनुष्य को अपनी आय के अनुरूप व्यय करना चाहिये। आय के अनुसार व्यय करना ही सच्ची विद्वता है। कहा है :- ''एतदेव ही पाण्डित्यं, आयादल्पतरो व्ययः''

व्यर्थ को दूर करो, सार्थक स्वतः ही प्रकट होगा -

यहाँ स्मरण हो रहा है, प्रसद्धि शिल्पी मायकल ऐंजिलो की एक घटना।

मायकाल को मार्ग में चलते हुए एक पत्थर अत्यन्त पसन्द आ गया। उसे उठाकर वह घर ले आया। अपनी शिल्प-कला के द्वारा उसने छीनी-हथौड़े की सहायता से उक्त पत्थर में से एक नैन-रम्य मनोहर मूर्ति तैयार की। तत्पश्चात् उसने वह मूर्ति किसी अजायबघर में रखी। मायकल की इस मूर्ति को देखकर लोग अत्यन्त प्रसन्न हुए। किसी व्यक्ति ने मायकल को पूछा ''मायकल साहेब। मार्ग में पड़े हुए एक निरर्थक पत्थर में से आपने ऐसी मनोहर प्रतिमा का निर्माण कैसे किया ? मायकल ने उत्तर दिया, ''भाई सत्य कहूँ तो मैं प्रतिमा का निर्माण करता ही नहीं हूँ। मैं पत्थर में निहित व्यर्थ भागों को छैनी से दूर कर देता हूँ। जिससे स्वतः ही प्रतिमा तैयार हो जाती है। प्रत्येक पत्थर में ऐसी कोई प्रतिमा छिपी हुई है। उस प्रतिमा को उजागर करने के लिये उस के व्यर्थ भागों को दूर करने की ही आवश्यकता होती है।''

मायकल ने जो बात कही वह सचमुच अत्यन्त ही समझने योग्य है। जीवन रूपी पत्थर में से व्यर्थ व्यय, निरर्थक उड़ाऊ वृत्ति को यदि दूर कर दिया जाये तो आपके जीवन में भी एक अभिराम व्यक्तित्व की प्रतिमा खिल उठेगी। सार्थक एवं अनिवार्य व्यय ही करें - यह कहने की अपेक्षा व्यर्थ व्यय दूर करे - यह कहा जाये तो अन्त में सार्थक ही शेष रहेगा। व्यर्थ को घटाने से जो शेष रहेगा उसका नाम ही है - सार्थक।

धन का अहंकार ही यह कहलवाता है :-

जिस व्यक्ति के जीवन में आय के अनुसार ही व्यय होता है, उसका जीवन सुखी होता है, उसका चित्त प्रसन्न होता है, उसका धर्म-ध्यान आदि भी प्रसन्नतापूर्वक चलता रहता हैं। आजकल अनेक व्यक्ति यह मानते और कहते हैं कि हम अर्जित करते हैं और हम व्यय करतें हैं, उसमें अन्य व्यक्तियों को क्या ? ऐसे वाक्य बुलवाता है धन का अहंकार। धन का पारा जब मानव-मस्तिष्क में ऊपर चढ जाता है तब से ही भूलों के चक्रव्यूह का चित्रण प्रारम्भ हो जाता है, जीवन के पिछले द्वार से बर्बादी प्रविष्ट हो जाती है, परन्तु अभागे मनुष्य उसका प्रवेश तक ज्ञात नहीं कर पाते।

गृहस्थ को कितना व्यय करना चाहिये ?

गृहस्थ व्यवस्था में रहने वाले संसारी मनुष्य को धन का व्यय तो करना ही पड़ता है, परन्तु वह व्यय किस प्रकार करना चाहिये ? किस प्रकार का व्यय उचित कहा जाता है उस विषय में

कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरि महाराजा बताते हैं कि -

व्ययमायोचितं कुर्वन् वेषं वित्तानुसारतः।

''गृहस्थ को अपनी आय के अनुसार व्यय करना चाहिये और वेष-भूषा भी धन-सम्पत्ति के अनुसार धारण करनी चाहिये।'' व्यय किसे कहते हैं ? अपने आश्रितों, स्वजनों तथा सेवकों आदि का पालन-पोषण करना, अपने लिये वस्तुओं का उपभोग करना, देव-पूजा एवं अतिथि सत्कार आदि के लिये धन व्यय करना, अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये धन व्यय करना - इसे व्यय कहतें हैं और वह व्यय अपनी नौकरी, व्यपार आदि के द्वारा प्राप्त होते धन में से उचित रीति से करने का नाम उचित व्यय।

धन साध्य नहीं है, साधन है -

वर्तमान समय में मानव जीवन में धन ग्याहरवां प्राण हो गया है। यह बात सही है कि धन जीवन-निर्वाह के लिये अनिवार्य है, परन्तु यह बात सतत ध्यान में रहे कि धन साधन है, साध्य नहीं है। धन जीवन व्यवहार का माध्यम है ध्येय नहीं है, जीवन की यह मंजिल नहीं है। ''धन में ही जीना और धन के लिये ही जीना' यह सच्चे सज्जन का लक्षण नहीं हैं, क्योंकि यदि जीवन धन के लिये ही जीना प्रारम्भ हो जायेगा तो उस धन को प्राप्त करने के लिये अनेक पाप करने में भी मन नहीं हिचकिचायेगा।

'धन है तो सब कुछ है। धन से ही संसार में मान-सम्मान एवं प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। कहते भी हैं न कि, सर्वेगुणाः कांचन-माश्रयन्ते' - इस प्रकार की मान्यता गाढ़ मिथ्यात्वी व्यक्ति की होती है, सच्चे सज्जन की नहीं। ज्ञानी पुरूष तो यहाँ तक कहते हैं कि ईमानदारी और नीति से उपार्जित धन को भी आप उचित मार्ग में ही व्यय करें। नीति से उपार्जित धन को भभ चाहे जिस प्रकार से और चाहे जिस काम में व्यय नहीं कि जा सकता। इस कारण ही तो 'मार्गानुसारिता के गुणों में 'न्याय-सम्पन्न विभव' को जिस प्रकार स्थान दिया गया है उसी प्रकार से 'आयोचित न्याय' नामक गुण को भी अत्यन्त महत्वपूर्ण मानकर स्थान दिया गया है। यदि ऐसा नहीं होता तो 'उचित व्यय को स्वतंत्र गुण बताकर उसे 'पैंतीस गुणों' में महत्व नहीं दिया गया होता।

उचित अर्थात् योग्य एवं आवश्यक :-

जीवन-व्यवहार में आप जब-जब और जो जो व्यय करो तब -तब आप मन ही मन अपने अन्तर को पूछते रहें कि यह जो मैं व्यय कर रहा हूँ वह क्या सचमुच उचित हैं ? उचित के दो अर्थ होते हैं (1) योग्य एवं (2) आवश्यक।

जिस कार्य के लिये आप व्यय करते हैं क्या वह योग्य हैं ? और क्या वह आवश्यक हैं ? इन दोनों प्रश्नों का उत्तर मन ही मन प्राप्त करें।

प्रश्न : योग्य हो तो भी वह आवश्यक न भी हो, यह हो सकता है ?

योग्य हो वह आवश्यक तो होगा ही न ?

उत्तर : नहीं, कई बार यह भी होता है कि अमुक कार्य के लिये व्यय करना योग्य हो परन्तु आवश्यक न भी हो। उदाहणार्थ : धनवान व्यक्ति को अपनी पुत्री के विवाह के प्रसंग पर अतिथियों, निमंत्रितों के लिये प्रीति-भोज रखना योग्य अवश्य हो और जिससे वह प्रीति-भोज का आयोजन करे उसे अयोग्य नहीं कहा जायेगा। परन्तु एक 'डिश' सित्तर रूपयों की हो, एक दिन के भोजन में वह धनवान व्यक्ति एक लाख रूपये व्यय कर डाले तो वह तनिक भी 'आवश्यक' नहीं माना जायेगा। पुत्र अथवा पुत्री के विवाह में प्रीतिभोज रखना योग्य है, परन्तु एक प्रीतिभोज में लाख रूपये व्यय करना अनावश्यक है। ये कोई गप्प की बातें नहीं है। बम्बई के वालकेश्वर के करोड़पति सेठ सचमुच इस प्रकार विवाहों में घोर अपव्यय करते हैं। वे सजावट पर तीन-तीन लाख रूपये व्यय कर देते हैं। समस्त विवाहोत्सव का व्यय पच्चीस-तीस लाख रूपये होने की उत्तरदायित्व पूर्ण बातें सुनी है।

यह मानने की 'भूल' मत करना :-

क्या ये सब उचित व्यय हैं ? नहीं, कदापि नहीं। ये तो धन का नितान्त अपव्यय है। यदि उन्हें व्यवस्थित धंधे पर लगाने में इतना धन व्यय किया जाये तो धनवानों के इतने व्यय में तो चार सौ पांच सौ स्वधर्मियों के परिवार जीवनभर के लिये स्थिर हो जायें। परन्तु वर्तमान धनवानों को ऐसी बातों में कोई रूचि नहीं है। परन्तु आप ध्यान में रखें कि आपकी सन्तान पानी के बदल फलों का रस पीती हो और आपके सुन्दर फ्लैट का मूल्य पचहत्तर लाख रूपये हो, जिससे सम्पूर्ण विश्व सुख में झूमता होगा वह मानने की भूल कदापि नहीं करें।

स्वयं के लिये मितव्ययी और परोपकार के लिये उदार बनें :-

यदि आप अपने निरर्थक व्यय में मितव्ययी नहीं बनेंगे तो अन्य व्यक्तियों के लाभार्थ, परोपकारार्थ कहाँ से व्यय कर सकेंगे ? यदि आप दूसरों के उपकार के लिये कार्य करने की तमन्ना रखते हो तो वह सम्भावना तब ही होगी जब आप स्वयं के व्यवहार में उदार बनना छोड़कर संकोचशील बनेंगे। स्मरण रहे - 'जो व्यक्ति स्वयं के लिये अपव्ययी होगा वह परोपकार के कार्य में अनुदार, कृपण होगा और जो स्वयं के व्यवहार में मितव्ययी होगा वह परोपकार के कार्य में उदार होगा।'

स्वयं के जीवन व्यवहार में भी मनुष्य को अपने स्तर एवं अपनी योग्यता के अनुसार ही व्यय करना चाहिये। व्यर्थ के लिये ऋणी बनकर अपना वैभव एवं धामधूम दिखाने का कोई अर्थ नहीं है। ऐसा करने से भविष्य में वह ऋण और उसका ब्याज चुकाने में मुख्य व्यक्ति एवं उसके परिवार-जन चिन्ता की आग में जलते रहेते हैं।

ऋण चुकाने की चिन्ता में सज्जन की बलि :-

यह एक सत्य घटना है। एक गृहस्थ का पैंतीस वर्ष की बड़ी आयु में विवाह हो रहा था।

उनके परिवार में विवाह का यह अन्तिम प्रसंग था। उससे पूर्व उसके दो भाईयों एवं एक इकलौती बहन के विवाह अत्यन्त धूमधाम से हो चुके थे। इस कारण उस गृहस्थ की इच्छा थी कि स्वयं का विवाह सादगी में किया जाये। उसने अपने माता-पिता एवं ससुराल वालों को समझाया, परन्तु माता-पिता ने कहा ''पुत्र। अपने परिवार में विवाह का अब यह अन्तिम प्रसंग है। निकट भविष्य में अपने परिवार में विवाह का कोई प्रसंग आने वाला नहीं है। अत: यह विवाह तो ठाठ से ही करना है।''

ससुराल पक्ष में कन्या के विवाह का प्रथम प्रसंग ही था। अत: उनकी इच्छा भी विवाह धूम-धाम से करने की थी। उस व्यक्ति ने दोनों पक्ष के लोगों को अत्यन्त समझाया कि 'वे व्यर्थ के व्यय है अत: सादगी से विवाह करो तो ठीक रहेगा।'' परन्तु कोई नहीं माना। परिवार के बड़े-बुढों की निरर्थक हठ पूर्ण करने के लिये उस सज्जन ने कहीं से बीस हजार रूपयों का ऋण लिया। वर्षों व्यतीत होने पर भी वह ऋण चुका नहीं सका। आज स्थिति यह हो गई है कि जिस व्यक्ति से उसने बीस हजार रूपयों का ऋण लिया था, उन्हें वह अपना मुँह तक बता नहीं सकता।

ये परिस्थिति क्यों उत्पन्न हुई ? उन्होंने अपनी शक्ति का तनिक भी विचार नहीं किया। अपना पुत्र भविष्य में इतनी बड़ी धन-राशि कैसे चुका सकेगा। उस विषय में तनिक भी विचार किये बिना माता-पिता व्यर्थ की हठ लेकर बैठ गये। मनुष्य को अपने स्तर और योग्यता का सदा विचार करके ही प्रत्येक कदम उठाना चाहिये।

आप अकेले ही सामान क्रय करने के लिये क्यों आतेहैं ?

कई बार स्त्रियां अपने पति की आय का विचार किये बिना अपव्यय करती रहती हैं और अनावश्यक, केवल मौज-शौक की वस्तुऐं क्रय करके पति को निरर्थक कठिनाई में डालती रहती हैं। स्त्रियों को भी अनावश्यक व्यय में कटौती करनी चाहिये। एक सज्जन कभी भी अपनी पत्नी को साथ लेकर 'शॉपिंग सेन्टर'' में समान क्रय करने के लिये नहीं जाते थे। किसी मित्र ने उन्हें पूछा ''आप अकेले ही सामान क्रय करने के लिये क्यों आतें हैं ? कभी कभी भाभी को साथ लेकर आते हो तों ?''

उस सज्जन ने कहा ''भाई । यदि तुम्हारी भाभी को साथ लेकर सामान क्रय करने के लिये आऊँ तो सामान घर ले जाने के लिये एक बड़ा ट्रक भी साथ लाना पड़ेगा।''

अनेक धनी व्यक्ति बूट और चप्पलों की दस-पन्द्रह जोड़ियां रखते हैं। कार्यालय में पहनने के बूट अलग, पार्टी में पहनने के अलग, धार्मिक उत्सवों आदि में पहनने के अलग। एक व्यक्ति के पहनने के लिये कितनी जोड़ी बूट-चप्पल चाहिये ? यह सब अनुचित व्यय ही है न ?

व्यर्थ की कुटेवों का त्याग करें - एक प्रसंग :-

एक व्यक्ति अनेक बार मेरे पास आकर शिकायत करता- ''श्रीमान्। अत्यन्त महंगाई है। इस संसार में तो तीन ठीक करों तो तेरह टूटते हैं ऐसी हमारी दशा है।'' वह नित्य उपाश्रय में आता और नित्य अपना रोना रोता। उस भाई के सिगरेट पीने की आदत के सम्बन्ध में मुझे ज्ञात हुआ। एक

दिन मैंने उसे पूछा - ''भाई। तुम नित्य कितनी सिगरेट पीते हो ?''उसने उत्तर दिया ''श्रीमान। बीस-पच्चीस तो हो ही जाती है।'' मैंने उत्तर दिया ''लगभग तीन रूपये होते होंगे।'' अर्थात तुम महिने में लगभग एक सौ रूपयों की तो सिगरेट ही पीते हो ? यह आदत कितने वर्षो से है ?''

उत्तर मिला - ''दस वर्षों से।'' यदि हिसाब लगाया जाये तो दस वर्षो में उस व्यक्ति ने बारह हजार रूपयों की सिगरेट फूँक दी। सिगरेट पीने वालों को स्मरण रखना चाहिये कि तुम सिगरेट नहीं फूँकते, परन्तु सिगरेट तुमको फूंक रही हैं, तुम्हारे जीवन का सर्वनाश कर रही है।

यदि आपकी आय कम हो तो उस दृष्टि से भी व्यर्थ की कुटेवों और आदतों को छोड़नी चाहिये। एकदम तो नहीं छूट सकती- यह बात सत्य है, परन्तु उन्हें छोड़ने का उद्यम तो करते रहना ही चाहिये।

व्यसन, व्यवहार एवं वासना की दासता :-

व्यसन, व्यवहार एवं वासना के कारण वर्तमान समाज का अत्यधिक धन कुमार्ग की ओर जा रहा है। निर्धन व्यक्ति व्यसनों में धन का अपव्यय करते हैं मध्यम वर्ग के व्यक्ति मिथ्या व्यवहारों के पीछ शक्ति से उपरान्त व्यय करते हैं और धनी व्यक्ति वासनाओं का पोषण करने में अपनी सम्पत्ति को फूंकते हैं। जो लोग समझदारी से अनी आय का उचित उपोग करते हैं वे समाज को मंगल प्रेरणा देते हैं। एक सज्जन की बात मुझे स्मरण हो आई है।

एक सज्जन की ऊंची विचार धारा :- उन सज्जन की ईमानदार व्यापारी के रूप में बाजार में प्रतिष्ठा थी। वे एक नम्बर की ही बहियां रखते थे। वे अपनी समस्त आय नीति-मार्ग से ही प्राप्त करते थे। वे अत्यन्त सुखी थे। कही यात्रा पर जायें तो प्रथम में प्रवास करने के लिये शक्ति-सम्पन्न थे, फिर भी वे द्वितीय श्रेणी में ही प्रवास करते। अनेक व्यक्ति उन्हें 'कंजूस काका' कहते, परन्तु वास्तव में तोवे मितव्ययी थे।

मितव्यय और कृपणता में अन्तर है।
मितव्यय गुण है, कृपणता दुर्गुण है।
उदारता सद्गुण है, अपव्यय दुर्गुण है।

अपने जीवन के व्यवहार में उदारता हमारा कर्त्तव्य है। किसी मित्र ने उन्हें पूछा, चाचा। अप इतने सुखी हैं फिर भी जीवन-व्यवहार में इतना मितव्यय क्यों करते है। ? उत्तर देते हुए उन्होंने कहा - यह हमारा जीवन अनेक व्यक्तियों के उपकारो के कारण चल रहा है। हम जो अन्न खाते हैं उसे हमने उत्पन्न नहीं किया। बीज से लगाकर भोजन बनने तक तो अनेक व्यक्तियों ने अपना परिश्रम उसमें डाला है। वस्त्र, आवास, आदि हमारे जीवन की अनेक आवश्यक वस्तु अनेक मनुष्यों के उपकार से प्राप्त होती हैं। हममें जो शुभ विचार एवं जो शुभ भावनाऐं प्रकट होती हैं उनमें भी देव, गुरू, धर्म, माता, पिता, शिक्षक, उत्तम पुस्तकों आदि के अनन्य उपकार कारण भूत हैं।''

उन्होंने आगे कहा ''परोक्ष एवं प्रत्यक्ष रूप से हम अनेक व्यक्तियों के उपकार से दबे हुए हैं। इस प्रकार अनेक व्यक्तियों के ऋण में हम डूबे हुए हों तो हम व्यर्थ व्यय कैसे कर सकते हैं ? हमारी आय पर केवल हमारा ही अधिकार नहीं है। हमारे परिवार, स्वजन, सम्बन्धी, स्नेही जनों, समाज, धर्म, धर्म-गुरूओं एवं सम्पूर्ण मानव-जाति के कल्याण के लिये इस सम्पत्ति का विनियोग होना चाहिये, तो ही हम उस ऋण से अमुकअंशो में उऋण हो सकते हैं। हमारी धन-सम्पति से हमारा और हमारे परिवार का निर्वाह हो उतनी धन-राशि व्यय करके शेष धन का अन्य जीवों को बाह्य एवं अभ्यन्तर विकास के लिये सदुपयोग होना चाहिये।'' उस सज्जन ने कितने विचार व्यक्त किये।

बात करने में दो लालटेनों की क्या आवश्यकता ?

एक अन्य मितव्ययी सज्जन की बात स्मरण हो आई है। वे एक बाद दो लालटेन जलाकर कुछ लिख रहे थे। उस समय कुछ कार्यकर्त्ता जीवदया का चन्दा लेने के लिये उनके पास आये। उस समय उन सज्जन ने एक लालटेन बुझा दिया। आगन्तुक कार्यकर्त्ताओं ने सोचा ''ऐसा कृपण व्यक्ति चन्दे में क्या धन-राशि देगा ?'' परन्तु उन्होंने अनुमान से अधिक धन-राशि चन्दे में दी। उनमें से एक कार्यकर्त्ता ने विनम्रता से उन्हें पूछा ''हम आये तब आप दो लालटेनों के प्रकाश में लिख रहे थे और फिर आपने एक लालटेन बुझा दिया। ऐसी कृपणता देखकर हमें उस समय यह प्रतीत हो रहा था कि आप चन्दे में क्या दे सकेगे, परन्तु जबआपने हमारे अनुमान से अधिक धन-राशि दी तब हमारे भ्रान्ति दूर हो गई।''

तब वे सज्जन बोले - ''भाई। लिखने के लिये दो लालटेन आवश्यक थे परन्तु वार्तालाप करते समय एक ही लालटेन पयोप्त था। मेरा नियम यह है कि व्यर्थ के व्यय से यथा शक्ति दूर रहना चाहिये, परन्तु आप जीवदया के जिस उत्तम कार्य के लिये आये हैं उसमें तो उचित धन-राशि लिखवाना मेरा कर्त्तव्य था जिसे मैंने पूरा किया।''

व्यर्थ के व्यय कुबेर का भण्डार भी खालीकर देते हैं :-

उचित व्यय का अर्थ यह है - हमारी व्यक्तिगत आवश्यकता के समय व्यय करते समय मितव्ययी होना। यथा संभव कम व्यय से काम चलाना, परन्तु जब स्वधर्मी अथवा सुपात्र मुनि तथा जीवदया आदि के लिये व्यय की आवश्यकता हो उस समय मितव्ययी न होकर सम्यक् प्रकार से उदारता पूर्वक व्यय करना चाहिये। एक बात अच्छी तरह समक्ष ले कि जीवन-निर्वाह के लिये तो अत्यन्त कम पैसों से चल सकता है, परन्तु यदि आप जीवन का श्रृंगार करना चाहोगे तो अपार सम्पत्ति भी आपको अल्प प्रतीत होगी।

अपने अहंकार के पोषण के लिये, समाज में प्रतिष्ठा एवं सम्मान बना रखने के लिये, मैं भी किसी से कम नहीं हूँ, इस मिथ्या-भिमान के पोषण के लिये किये जाने वाले व्यय कुबेर के भण्डार को भी खाली कर सकते हैं। अन्य व्यक्तियों से अच्छे कहलवाने अथवा दिखाई देने की मनोवृत्ति में खिंचकर धन को उड़ाना निरी मूर्खता है। यदि मनुष्य चाहे तो कितने अल्प व्यय में जीवन-निर्वाह कर

सकता है और साथ ही साथ बचत करके दूसरों की सहायता भी कर सकता है, जिसके संबंध में निम्न सत्य घटना 'शिक्षण-पत्रिका' के सितम्बर 1986 के अंक में पढने में आई थी।

सुदामा का सा जीवन - निर्वाह करने वाले महानुभाव :-

सुदामा के समान जीवन निर्वाह करने वाले वे महानुभाव कर्णाटक राज्य के केनेरा बैंक के सेवा-निवृत्त मेनेजर हैं, जिनका जीवन अनुकरणीय एवं अनुमोदनीय है। साठ वर्ष की आयु के वे जैन मेनेजर बाल-ब्रह्मचारी हैं। अपने भाई आदि होते हुए भी वे अकेले ही रहते हैं और त्याग तथा संयम का जीवन व्यतीत करते हैं। आन्ध्रा प्रदेश में बाढ आई तब तथा दक्षिण भारत के प्राकृतिक प्रकोप के समय उन्होंने अपनी चिरस्मरणीय सेवाऐं अर्पित की थी। तत्पश्चात् वे निरन्तर सेवा-कार्य में रत रहते हैं।

बिना इस्तरी किया हुआ सफेद शर्ट और धोती उनकी वेश-भूषा है। फट जाने पर मरम्मत करके जहाँ तक उपयोग में लिये जा सकें तब तक वे वस्त्रों का उपयोग करते हैं। तीन जोड़ी वस्त्रों से अधिक परिग्रह वे नहीं रखते।

अनेक वर्षों से अपनी आय में से सामान्य धन-राशि अपने निर्वाह के लिये रख कर तथा अपने मावतर के प्रति कर्त्तव्य पूर्ण करके शेष धन-राशि का वे सद्व्यय करते हैं। स्वयं को प्राप्त होने वाले 'प्रोविन्ट फण्ड' आदि की भी उन्होंने वसीयत कर दी है। उसमें से अपने मावतर आदि के पोषण केलिये अमुक धन-राशि रखकर शेष समस्त वसीयत सार्वजनिक कार्यों में व्यय करने का उल्लेख उन्होंने अपने वसीयत नामें में किया है।

अपने स्वामित्व की एक कोठरी भी उन्होंने नहीं रखी। केवल 4×6 की छोटीसी कुटिया एक सामाजिक संस्था ने उन्हें आवास के लिये प्रदान की है जहाँ वे निवास करते हैं। उनके सामान में एक पुरानी टिन की छोटी सन्दूक, बिस्तर, एक मटकी, एक लोटा और वस्त्र सुखाने की रस्सी है। वे अपना समस्त कार्य स्वयं ही करते हैं।

किसी समय उनकी दीक्षा ग्रहण करने की भावना थी परन्तु संयोगवश वे दीक्षा ग्रहण नहीं कर सके। निरन्तर अठारह वर्षों तक वे आयंबिल के रसोड़े में भोजन करते रहे। एक अवधूत एवं सद्भुत अपरिग्रही के रूप में उनकी जीवन सचमुच प्रेरणादायक है।

एक संस्था के जितना कार्य वे अकेले अपने हाथ से करते हैं। वे अपना समस्त कार्य स्वयं ही करने का आग्रह रखते हैं, दूसरों को बताकर स्वयं उसमें से कदापि किनारा नहीं करते। वे किसी कार्य में लिप्तता नहीं रखते। कबूतर को चुग्गा डालने से लगाकर निरक्षरों को साक्षर करने तक की समस्त प्रवृतियाँ वे स्वयं ही करते हैं। यथा संभव जहाँ तक जा सकते हैं वहाँ तक वे पैदल ही जाते है। अनिवार्य प्रतीत हो तो ही वे किसी वाहन का उपयोग करते हैं। बालकों को सुसंस्कार प्रदान करने की प्रवृत्ति में वे अत्यन्त ही उत्साही एवं अग्रगण्य रहते है।

यद्यपि समस्त मनुष्य इन महानुभाव के समान अपरिग्रही जीवन नहीं भी जी सकें, सबका उतना सामर्थ्य एवं तैयारी न भी हो, फिर भी ये एक आदर्श अपरिग्रही श्रावक कैसा होता है उसके वास्तविक नमूने हैं। उनसे हमें इतनी प्रेरणा अवश्य लेनी चाहिये कि हमें व्यर्थ एवं निरर्थक व्यय करने से दूर रहना चाहिये।

धर्म-बिन्दू का उपदेश

धर्म-बिन्दू प्रकरण की टीका में एक श्लोक है -

आय व्यय मनालोच्य, यस्तु वैश्रवणायते।

अचिरेणैव कालेन, सोऽत्र वै श्रवणायते।।

''जो व्यक्ति अपनी आप का विचार किये बिना वैश्रवण (कुबेर) की तरह धन व्यय करते हैं, वे व्यक्ति अल्प समय में यहाँ केवल श्रवण करने योग्य ही रह जाते हैं।'' तात्पर्य यह है कि आय का विचार किये बिना अंधाधुंध धन का व्यय करने वाले व्यक्ति अल्प काल में निर्धन हो जाते हैं, और फिर 'वे भाई ऐसे धनवान अथवा करोड़पति थे' ऐसी बातें ही केवल सुनने के लिये रह जाती हैं।

धन का चार प्रकार से विभाजन -

पादमायान्निधिं कुर्यात्, पादं वित्ताय घट्टयेत्।

धर्मोपभोगयो: पादं, पादं भर्तव्य पोषणे।।

''अपनी वार्षिक आय के चार भाग करने चाहिये, जिसमें से एक भाग जमा रखना, एक भाग का व्यापार में उपयोग करना, एक भाग धर्म-कार्य में व्यय करना और एक भाग परिवार के जीवन-निर्वाह में व्यय करना।'' यदि इस प्रकार व्यवहार किया जाये तो अनेक प्रकार से लाभ होता है, व्यापार में निश्चिन्तता रहती है, स्वधर्मियों को समाधि प्रदान करने में हम सहायक हो सकते हैं, धर्म-कार्य में उल्लासपूर्वक धन का उपयोग किया जा सकता है और अपने परिवार की ओर से भी पूर्ण संतोष प्राप्त किया जा सकता है।

'आवक' शब्द का अर्थ ही अत्यन्त रोचक है। ये तीन अक्षर ही अपना अर्थ सुन्दर रीति से बतलाते हैं। आ = आवश्यक का, व = वापरना, क = कर्त्तव्य, अर्थात् जीवन में जो आवश्यक वस्तु हैं उनको ही वापरना (उपयोग करना) चाहिये, परन्तु व्यर्थ अनावश्यक शौक की वस्तुओं को खरीदने के मोह में नहीं पड़ना चाहिये।

अनर्थ दण्ड के पाप त्यागो -

आधुनिक समय में रेड़ियो, टी. वी., वीडिया, फ्रिज, एअर कन्डीशनर, होटलों, नाटकों आदि में अंधाधुंध व्यय किया जा रहा है। ये समस्त वस्तुएं जीवन-निर्वाह के लिए अनिवार्य नहीं हैं। इनके प्रभाव में मनुष्य जीवित नहीं रह सके ऐसी बात नहीं है। इसलिये शास्त्रकार इन समस्त वस्तुओं को अनर्थदण्ड का पाप कहते हैं। इन अनर्थ दण्ड के पापों को जीवन में से शीघ्रातिशीघ्र तिलांजलि

देनी चाहिये, ताकि जीवन में से निरर्थक व्यय स्वत: ही समाप्त होजायेगा।

यदि निरर्थक व्यय की कटौती होती रहेगी तो धन बचेगा और उस बचे हुए धन में से सात क्षेत्रों एवं अनुकम्पा आदि कार्यों में व्यय करने की इच्छा होगी। आपकी बचीहुई सम्पत्ति अनेक दु:खी स्वधर्मियों का उद्धार करेगी। उससे कुछ व्यक्ति नवजीवन प्राप्त करेंगे, सातो क्षेत्र सक्षम हो जायेंगे और मंदिरों, पाठशालाओं, ज्ञान-भण्डारों, स्वधर्मी-वात्सल्य आदि अनेक धर्म-प्रवृत्तियों एवं धर्म-कार्यों के लिये आपका धन उपयोगी होगा।

गुजरात एवं सौराष्ट्र जैसे प्रदेशों में जहाँ दो-दो वर्षो से भयंकर दुष्काल पड़ रहा है, अनाथ, विकलांग एवं निराधार पशु पानी के लिये भटक रहे हैं और अनेक स्वधर्मी एवं अन्य व्यक्ति भी अत्यन्त आर्थिक संकट सहन कर रहे हैं। ऐसे कार्यों के लिये आप अपनी बची हुई सम्पत्ति का उपयोग करें और अनेक प्राणियों के प्राण बचाकर अभयदान का परम सुकृत्य करें।

प्राप्त धन-सम्पत्ति का अपव्यय न करें। दुरूपयोग करने से आपकी आत्मा कलुषित होगी। अपनी आत्मा को पाप के बोझ से भारी नहीं होने दें। अपनी आय का आप उचित व्यय करें। उचित व्यय दो प्रकार से होता है - (1) अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं में कटौती करके अत्यन्त ही आवश्यक वस्तुओं में धन का व्यय करें और (2) दीन-दु:खियों के लिये तथा धर्म-कार्यों में अधिकतर धन-राशि का सदुपयोग करें। इस प्रकार आत्मा को विमल (निर्मल) एवं विशुद्ध बनाकर कर्म के बोझ से हलका होना है।

अनुचित व्यय से हानि -

आजकल प्राय: एक दूसरे को देखकर अनेक पाप हो रहें हैं पड़ोसी के घर में फ्रीज तथा रंगीन टी.वी. आ गये हो और हमारे घर में वे साधन-सामग्री न हो तो उसके लिये निरन्तर मन में अशान्ति रहती है। उन्हें कितनी शीघ्रता से लाया जाये, उसके लिये निरन्तर प्रयास होते रहते हैं। उनके लिये अधिक धन की आवश्यकता होती है जिसके लिये अन्याय एवं अनीति का मार्ग भी लेने की इच्छा हुए बिना नहीं रहती। इस प्रकार अनुचित व्यय के कारण अनेक हानियां होने लगी।

ऐसा दुस्साहस कदापि न करें -

कुछ मनुष्य अपने व्यापार-धंधे आदि में अपनी समस्त धन-राशि लगा देते हैं। तदुपरान्त अन्य व्यक्तियों से अत्यन्त धनराशी ब्याज पर लाकर धंधा करतें हैं। वे पांच लाख की धनराशि अपनी और पैंतालीस लाख रूपयें किसी अन्य से लाकर पचास लाख का व्यापार करते हैं। जब तक पुण्य प्रबल हो तब तक तो ठीक है, परन्तु पापोदय होने पर सब चला जाये तो क्या होगा ?

गृहस्थों को ऐसा दुस्साहस कदापि नहीं करना चाहिये। ऐसा करने से यदि व्यापार में हानि हो जाये और जब तक ऋण चुकाया न जा सके तब तक नींद और शान्ति हराम हो जाये। फिर भी यदि तीव्र पापोदय से ऋण चूकता न हो सके तो समाज में प्रतिष्ठा नष्ट हो जाये और धर्म तथा

धार्मिक व्यक्तियों पर से विश्वास उठ जाये।

अत: नीति शास्त्र ने सम्पति के चार भाग करने की बात कही है। उनमें से एक भाग जमा रखना है उससे व्यापार में हानि होने पर भी जीवन-निर्वाह करने में कठिनाई नहीं आयेगी। चार भाग करने के कारण धन-राशि तो सुरक्षित ही रहेगी।

यदि आय के अनुसार व्यय किया जाये तो कोई प्रशन ही नहीं रहेगा और उपर्युक्त अनेक सम्भावित हानियों से बचा जा सकेगा।

निमंत्रण-नियंत्रण और संस्करण...

'मानव जीवन अत्यंत दुर्लभ है' अनंत पुण्यराधि जब होती है तब ही मानव जीवन मिलता है... यह बातें सुनने में कई बार आयी परंतु हमारे पास जिस प्रकार का जीवन है यह देखते यह जीवन दुर्लभ है ऐसा लगता नहीं कोई समाधान?

एक बात याद रखना कि जीने जैसा जीवन किसी को भी जन्म से नहीं मिलता ... ऐसा जीवन हमें बनाना पड़ता है।

उद्यान में देखने मिलता गुलाब के पौधे का इतिहास उसके मालिक को पूछने से पता लगता है। आज इतना मस्त दिखाई पड रहा पौधा उसके जन्म के पहले दिन से ऐसा नहीं होता। उस पर जात जात के संस्कार करने पड़ते है। फिर वह उतना मस्त बनता है बस इस पौधे की तरह अपने जीवन का है। जन्म से जीवन मस्त नहीं होता उसे मस्त बनाने उस पर सतत तरह तरह के संस्करण करना पड़ता है।

मन में जागृत होते है वासनाओं के विचार। उसे योग्य दिशा में यदि नहीं भेजते तो वही विचार आपको पशु से भी न्युन बना देगा। निमित्त बस मन कषायों से व्याप्त है। उस पर यदि नियंत्रण न रखा जाए तो वो ही कषायग्रस्त मन आदमी को शैतान बनाकर रहता है।

सम्यक् को निमंत्रण देते रहो
गलत पर नियंत्रण रखते रहो और
अविकसित मनका संस्करण करते रहने से
जीवन जीने जैसा बना सकते हो।

आज जो मानव जीवन प्राप्त हुआ है वह दुर्लभ तो है लेकिन अगले जन्म में मानव जन्म प्राप्त करना हो तो निमंत्रण-नियंत्रण और संस्करण की त्रिपुटी को जीवन में स्थान दो। खुद परमात्मा को भी इस जीवन की प्रशंसा करनी पड़ेगी।

धर्म आराधना आज से...

एक समय भी प्रमाद किये बिना धर्मसाधना कर लेने की प्रभु की बात अनेक बार कानों में सुनी है लेकिन गंभीरता से मन से उसका अमलीकरण करने की तलप दिल में जैसे उठनी चाहिए वैसे उठती नहीं कोई समाधान?

समय और कर्म इन दोनों के स्वभाव को आंखों के समक्ष रखना चालू कर दो। धर्म आराधना तीव्रता से और शीघ्रता से होकर रहेगी। समय का स्वभाव ख्याल में है। प्रत्येक समय पसार होता है, मृत्यु आपके करीब आता है। आश्चर्य की बात तो यही है कोई भी बोल बेस्टमेन के लिए कयामत का बोल बन सकता है। उसी तरक कोई भी समय हमारी भी मृत्यु हो सकती है। गाड़ी की चाबी हाथ में और हृदय की धड़कने बंद हो सकती है। रात को सोते है लेकिन सुबह देखेंगे कि नहीं यह निश्चित नहीं। किसी की बारात में गये हो वहाँ से सीधे श्मशान पहुँच सकते है। एक और समय भरोसादायक नहीं तो दूसरी और कर्म भी विचित्र है। आपकी पेढी डूब सकती है तो जबान पर पेरेलिसीस का आक्रमण आ सकता है। सग्गा बेटा बाप का खून कर सकता है तो प्रिय बेटी किसी के साथ भाग सकती है।

'समय' कोई भी पल में जीवन समाप्त ... ऐसा भय स्थान अपने सिर पर हो और 'कर्म' कोई भी समय हाथ में रहे इस जीवन को मृत्यु से भी बदत्तर बना देने की शक्यता अपने पास हो तब धर्म आराधना को मुलत्वी रखने की या विलंबित करने की चेष्टा अपनी मूर्खता नहीं तो और क्या है? हम मूर्ख नहीं है यह साबित करने हेतु भी आज से धर्म आराधना प्रारंभ कर दीजिए।

मनुष्य जीवन, पंचेन्द्रिय पदुता, स्वस्थमन, घर्म सामग्री, प्रभु का शासन, प्रभु के वचन इन सभी की प्राप्ति 'दुर्लभ' है ऐसा सूना है लेकिन हमको तो यह सभी जन्म से मिल गया है। इनका सद्उपयोग कर लेने के लिए अत:करण में इतना उत्साह क्यों नहीं आता? कारण?

झोंपडपट्टी में रहता 75 साल के कोई बुजुर्ग को अपने जीवन काल दरम्यान पांच लाख की अंगूठी देखने को मिले लेकिन बही अंगूठी कोई धनवान के पांच साल के लड़के को पहनने के लिए मिल जाय यह बन सकता है। चोकलेट की लालच दिखाकर कोई उसकी अंगूठी निकलवाने में सफल बन जाता है कारण उस बच्चे को पांच लाख की अंगूठी का मूल्य मालूम नहीं है। बस वैसा ही अपना बना है।

अपने आंखों के सामने दिखाइ रहे पशु-पंछी-कीडे देखने पर अपने को मनुष्य जीवन की दुर्लभता का ख्याल आता है।

अंधे-मूंगे-बहेरे मानवों को देखने के बाद पंचेन्द्रिय पटुता का ख्याल आता है।

पागल और मानसिक विकलांग आदमीओं को देखने पर स्वस्थ मन की किमत समझ में आती है।

भोग सामग्री के पीछे पागल बने हुए को देखते है तब धर्म सामग्री की प्राप्ति कितनी दुर्लभ है वह पता चलता है।

मोक्ष मार्ग की स्पष्ट समझ न देनेवाले दिखाइ पडते है तब प्रभु के वचन की दुर्लभता लक्ष में आती है।

सागर में जन्मी सागर में रहनेवाली मछली यदि पानी के बाहर कोई कारण आना पडे तब उसे पानी की ताकात क्या है। वह पता चलता है।

अपना भी शायद वैसा ही है। अपने को जो मिला है वो औरों को जिन्हें नहीं मिला है उसको देखने से प्राप्ति की किंमत समझ में आयेगी।

हम प्रभु वचनों के आधार से प्राप्ति को समझ ले... तो ही उत्साह आयेगा।

Post Card - सफेद बाल

Cover - दांत निकलना

Register A.D. - कान में बहरापन

V P P - घूटने खराब

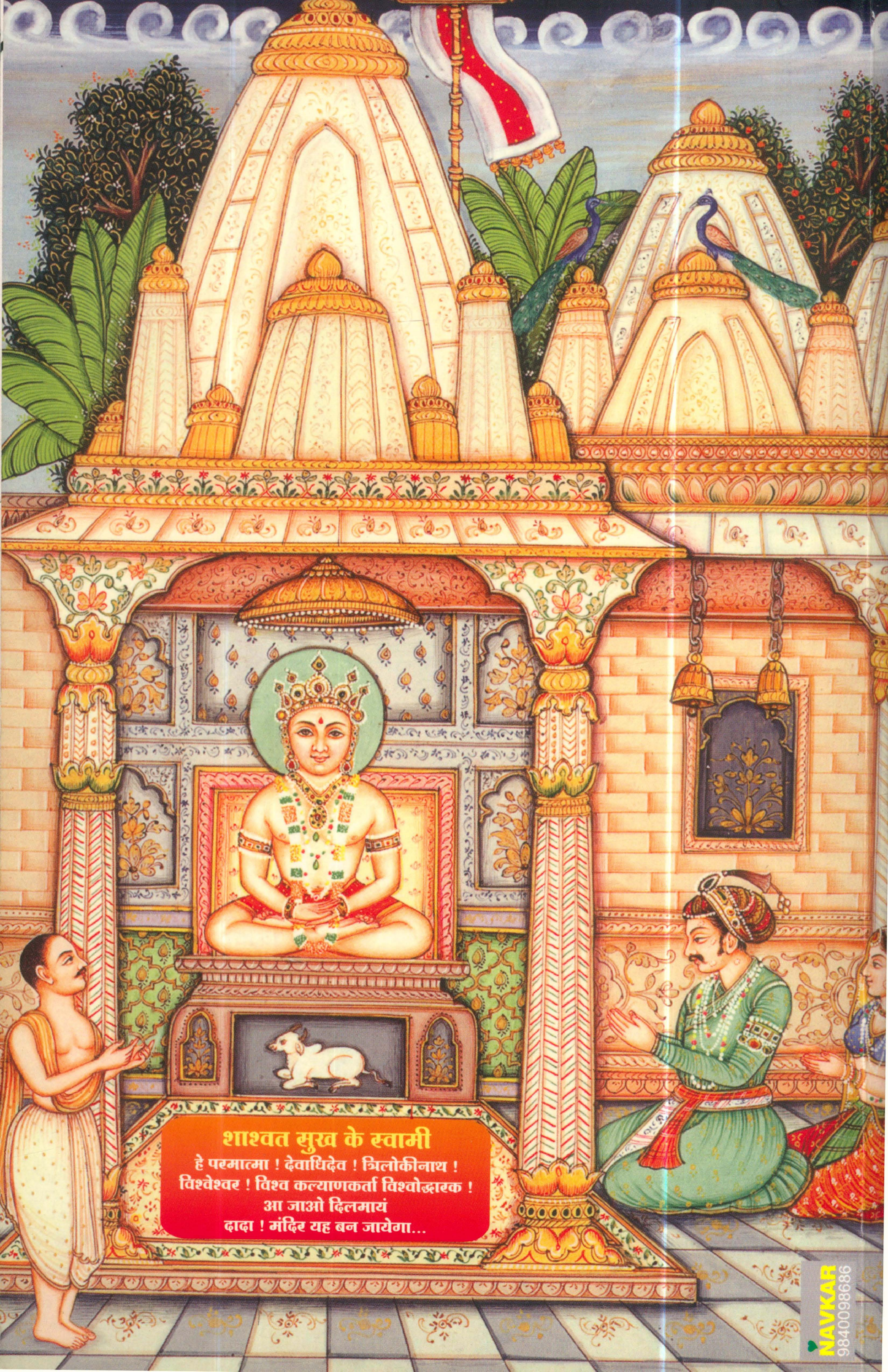
शाश्वत सुख के स्वामी
हे परमात्मा ! देवाधिदेव ! त्रिलोकीनाथ !
विश्वेश्वर ! विश्व कल्याणकर्ता विश्वोद्धारक !
आ जाओ दिलमायं
दादा ! मंदिर यह बन जायेगा...
NAVKAR
9840098686